आधुनिक साहित्य माला—१७

परिपक्व मानस

(लेखक की पुस्तक The Mature Mind का संक्षिप्त अनुवाद)

लेखक
एच० ए० ओवरस्ट्रीट

नई दिल्ली
आधुनिक साहित्य प्रकाशन

प्रस्तावना

"मनुष्य-जाति आज अपना दृष्टिकोण बदलने की अपूर्व मनोभावना में है," एलफ्रेड नॉर्थ वाइटहेड ने लिखा है; "केवल परम्परा का दबाव अब अपनी शक्ति खो चुका है। अब व्यापारियों, विद्यार्थियों तथा व्यावहारिक व्यक्तियों का यह काम है कि वे संसार की एक ऐसी दृष्टि की पुनःरचना करके उसका पुनःसंस्थापन करें, जिसमें स्थिरता एवं मौलिकता हो तथा जिसके अन्तर्गत श्रद्धा व व्यवस्था के वे तत्त्व निहित हों जिनके बिना समाज अराजकता के गर्त में गिर पड़ता है; और वह ऐसी दृष्टि हो जो अविचल विचार-शक्ति के साथ प्रविष्ट हुई हो।"

यह पुस्तक एक ऐसी दृष्टि की पुनर्रचना एवं उसके पुनःसंस्थापन से सम्बन्ध रखती है जोकि मनोविज्ञान तथा मानसोपचार विज्ञान की अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न होती है तथा जो मनुष्य की मानसिक, भावात्मक व सामाजिक परिपक्वता में केन्द्रित है। जब यह नई अन्तर्दृष्टि हमारी सार्वजनिक चेतना को भेदती है तो हमें यह उन शक्तियों को समझने में सहायता देती है, जिन्होंने हमारे कष्टों को उत्पन्न किया है और हमें विनाश के निकट ला खड़ा किया है; और अराजकता में से हमारे निकल आने की सम्भावना का भी यह रास्ता बनाती है।

यही वह अन्तर्दृष्टि है जिसे मैंने परिपक्वता की वित्ति कहना पसन्द किया है। हमारी मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक अन्तर्दृष्टियों में सबसे नवीनतम इस अन्तर्दृष्टि को समझना और इसे काम में लाना ही हमारा भावी कर्तव्य और हमारी आशा है।

प्रथम भाग

परिपक्वता-वित्ति

मनोवैज्ञानिक आधार

हमारी शताब्दी का विशिष्ट ज्ञान मनोवैज्ञानिक है। यहाँ तक कि पदार्थ-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के अत्यन्त नाटकीय विकास भी अन्वेषण के ज्ञात तरीकों के मुख्यतया प्रयोग ही हैं। किन्तु हमारे जमाने में मानव-प्रकृति तथा मानव-अनुभूति की ओर जो प्रवृत्ति उठी है, वह नई है।

यह प्रवृत्ति आज से पहले उत्पन्न नहीं हो सकती थी। इसके उत्पन्न होने से पूर्व एक लम्बी तैयारी जरूरी थी। शरीर-रचना-शास्त्र को एक विकसित विज्ञान के रूप में आना था, क्योंकि मनोवैज्ञानिक व्यक्ति शारीरिक व्यक्ति भी है। उसका मस्तिष्क अन्य वस्तुओं के साथ-साथ धमनियों, ग्रन्थियों, स्पर्श, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियों से सम्बन्धित है। शरीर-रचना-शास्त्र से पूर्व एक विकसित जीव-शास्त्र का होना आवश्यक था; क्योंकि मस्तिष्क, धमनियाँ, ग्रन्थियाँ आदि सब जीवाणुओं की क्रमिक गति पर निर्भर हैं, अतः एक सक्षम शरीर-रचना-शास्त्र की उत्पत्ति से पूर्व जीवाणुओं के विज्ञान को पूर्ण विकसित होना ही पड़ा।

किन्तु जीव-शास्त्र से पूर्व रसायन-शास्त्र हुआ तथा रसायन-शास्त्र से पूर्व पदार्थ-शास्त्र और पदार्थ-शास्त्र से पूर्व गणित। इस प्रकार इस लम्बी तैयारी का समय शताब्दियों पीछे चला जाता है।

संक्षेप में विज्ञान का एक समय-चक्र है। प्रत्येक विज्ञान को अपना समय आने से पहले तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। आज विज्ञान के समय-चक्र पर अन्त में मनोविज्ञान का पहर आरम्भ हुआ है, और इस प्रकार 'एक नये' ज्ञान का आविर्भाव हुआ है।

इस अन्तिम विज्ञान ने जो बातें खोजी हैं वे स्वयं पुरानी हैं किन्तु अन्वेषण की अचूकता नवीन है। संक्षेप में, आज एक प्रकार का अमिट तर्क मानव के नियंत्रण में है। प्रत्येक विज्ञान को अपनी विशिष्ट अचूकता पाने के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि उससे पूर्व विज्ञान निर्दिष्ट सिद्धान्त व सामग्री नहीं दे देता, जिससे उसकी सत्यता जानी जा सकती हो।

आज यह मनोवैज्ञानिक यथार्थता नई अन्तर्दृष्टियों को, जो हमारे जीवन का पुनर्निर्माण कर रही हैं, जन्म दे रही है। विशेषतः एक अन्तर्दृष्टि इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसे हमारे समय की प्रधान वित्ति कहा जा सकता है। यही मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की वित्ति है।

एक प्रकार से हमने मनोवैज्ञानिक परिपक्वता के विषय को जाना है, किन्तु अस्पष्ट रूप में तथा रुक-रुककर। इसका पूर्ण अर्थ हमारे सम्मुख अब ही प्रकट होना शुरू हुआ है। और जैसे-जैसे यह प्रकट होता जा रहा है हम यह जान पा रहे हैं कि परिपक्वता की वित्ति हमारे जीवन के समस्त कार्यों की धुरी है। हमारे पुराने ज्ञान इसी लक्ष्य की ओर चलते आए हैं। अतः यदि हमें अपने समय की भ्रान्तियों तथा निराशाओं को दूर करके आगे बढ़ना है तो अब हमें इसे स्वीकार करना ही होगा।

डिडरोट ने एक बार कहा था कि सारे बच्चे सार रूप से अपराधी होते हैं। यह हमारा सौभाग्य ही है कि उनकी शारीरिक शक्तियाँ इतनी सीमित हैं कि उन्हें विध्वंसात्मक कार्यों में लगाने की उनमें सामर्थ्य नहीं।

यदि डिडरोट आज जीवित होता तो वह अपने इस कथन को सम्भवतः और विस्तृत करके शायद कहता कि समस्त बाल-मस्तिष्क खतरनाक हैं और विशेषकर जब ऐसे मस्तिष्क वयस्क व्यक्तियों में हों तो जरूर खतरनाक

बन जाते हैं क्योंकि तब वे अपनी अपूर्णताओं को पूर्ण तथा खतरनाक रूप से कार्य-रूप में परिणत कर सकते हैं ।

वयस्कों के लड़कपन के असंख्य रूप हैं । वे केवल संस्थाओं में रहने वाले अभागों में ही नहीं पाये जाते बल्कि उन हजारों स्त्री-पुरुषों में भी होते हैं जो वयस्क प्रतीत होते हैं, वयस्क समझे जाते हैं तथा जिन्हें वयस्कता के पूर्ण अधिकार दिये जा चुके होते हैं ।

इन वयस्क बाल-मस्तिष्कों की अपूर्णताएँ स्वयं उन व्यक्तियों से ही प्रायः स्थायी रूप से छिपी रहती हैं । ये अपूर्णताएँ उन व्यक्तियों से भी प्रायः छिपी रहती हैं जो इन लोगों के जीवन में आते हैं, क्योंकि वे व्यक्ति भी अधिकतर उसी प्रकार की अपूर्णताओं का प्रदर्शन करते हैं । इसके अलावा ये अपूर्णताएँ समाज से भी गुप्त रहती हैं, क्योंकि समाज ने वयस्क व्यक्तियों के व्यवहारों को परिपक्व या अपरिपक्व बताने की नियमित आदत नहीं डाली है ।

लेकिन जब हम वयस्कों की इन अपूर्णताओं को समझने लगते हैं तो हमें मानवीय कार्यों में अधिक स्वस्थता लाने का एक साधन प्राप्त हो जाता है । यह अपूर्णताएँ हमारे इतिहास की उन बातों को बहुत-कुछ समझती हैं जिनके लिए हमारे पास अभी तक कोई पर्याप्त उत्तर न था । इसी प्रकार वे हमारे वर्तमान व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक आचरण के विषय में कई व्यग्र कर देने वाले तथ्यों की व्याख्या करती हैं । अतः वे हमारे सम्मुख एक हल रखती हैं जिसके द्वारा सार्वजनिक कल्याण तथा व्यक्तिगत सुख से सम्बन्धित कठिन समस्याओं को सुलझाया जा सकता है ।

साथ ही वे एक आशा भी उत्पन्न करती हैं, क्योंकि कई वयस्कों में अविचल प्रतीत होने वाली तथा कई संस्थाओं में सबल रहने वाली यह अपूर्णताएँ स्वयं में बदली जा सकती हैं । उनके विषय में कुछ-न-कुछ किया जा सकता है । कम-से-कम उनका मूल्यांकन कर उनका प्रभाव घटाया जा सकता है । किन्तु इससे भी अधिक उन परिस्थितियों को बदला जा सकता है जो उन्हें पैदा करती हैं तथा उनके प्रचलन को प्रोत्साहन देती हैं । हम

अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक—दोनों जीवनों में मनोवैज्ञानिक परिपक्वता से लाभ उठाने का एक नया काम शुरू कर सकते हैं।

हमारा अगला बड़ा काम वयस्क परिपक्वता से यह लाभ उठाना है।

स्पष्टत: परिपक्वता की वित्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी एक समूचे कपड़े में से काटकर बनाई गई हो। यह हमारे समय की मुख्य मनोवैज्ञानिक तथा मानसोपचार-वैज्ञानिक खोजों से उत्पन्न हुई है। प्रयोगशालाओं तथा रोगी-गृहों से निकली हुई मानव-प्रकृति-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टियों के योग से बनी हुई यह चीज है जिसे हम परिपक्वता की वित्ति कह रहे हैं। यह अन्तर्दृष्टियाँ हैं—(१) मनोवैज्ञानिक आयु का बोध; (२) प्रतिरुद्ध विकास अथवा स्थिरीकरण का बोध; (३) अभिसंधित प्रतिक्रिया का बोध; (४) अनन्य कार्यशक्ति का बोध; (५) ज्ञान-प्राप्ति की वयस्क क्षमता का बोध। जब इन पाँचों वित्तियों को समझकर व्याख्या की जाती है तो वे एक ही तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि मनुष्य के उचित मनोवैज्ञानिक आकलन का कार्य अपरिपक्वता से परिपक्वता की ओर बढ़ना है।

मनोवैज्ञानिक आयु की वित्ति का आरम्भिक उपयोग गत शताब्दी के अन्त में बच्चों की मानसिक परिपक्वता आँकने के लिए बिनेट के प्रयत्नों द्वारा हुआ। हजारों बच्चों के साथ परीक्षण करने के पश्चात् वह इस तथ्य को स्थापित कर सका कि विभिन्न आयु के बच्चों के लिए परिपक्वता की कई अवस्थाएँ हैं। उदाहरणतः एक साधारण बच्चे से यह आशा की जा सकती है कि वह एक उम्र आने पर चौकोर टुकड़े को चौकोर छिद्र में तथा गोल टुकड़े को गोल छिद्र में रखेगा। यदि उस अवस्था में बच्चा इस कार्य को न कर सके तो इसका अर्थ है कि उसके विकास में देर हुई है अर्थात् वह अपने शारीरिक विकास की अपेक्षा मानसिक विकास में पीछे है। यदि इसके विरुद्ध वह अपने से बड़े बच्चों के कार्य कर सकता है तो उसे अपनी उम्र से बड़ा कहा जा सकता है, यानी वह शारीरिक विकास की अपेक्षा मानसिक विकास में अधिक है।

इस प्रकार यह देखा गया कि समयानुसार आयु-वृद्धि के साथ मनो-

वैज्ञानिक विकास का होना आवश्यक नहीं। आजकल शिक्षकों द्वारा भेद-बोधन किये बिना सब बच्चों को एक-साथ नहीं रखा जा सकता। चार वर्ष की मनोवैज्ञानिक आयु वाला बालक, जिसकी समयानुसार आयु दस वर्ष की है, दस वर्ष की आयु के सभी बालकों के साथ नहीं चल सकता। उससे इस प्रकार की आशा करना उसे विफल बनाना है। इसी प्रकार समय के हिसाब से दस वर्ष के किन्तु मनोवैज्ञानिक विकास के आधार पर पन्द्रह वर्ष के बालक के साथ भी औसतन दस वर्ष के बच्चों-जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता। जब तक मनोवैज्ञानिक आयु के अन्तर के लिए व्यवस्था नहीं बन जाती, 'कम आयु' का बच्चा निराश होकर भिन्न मार्ग पकड़ लेगा या समाज-विरोधी आचरण करने लगेगा; 'अधिक आयु' का बच्चा परेशान होकर भ्रान्तचित्त हो जायगा और मानसिक क्षेत्र में असाधारण होते हुए भी वह स्कूल से मानव-जाति के लिए सम्मान की अपेक्षा घृणा लेकर निकलेगा।

बिनेट ने समस्याओं को सुलझाने की बच्चे की शक्ति और उसकी मानसिक आयु को मापना आरम्भ किया। बाद में मनोवैज्ञानिकों ने अपनी खोज का क्षेत्र व्यक्तिगत जीवन के भावात्मक तथा सामाजिक स्थलों तक बढ़ा दिया। इस क्षेत्र में भी यह पाया गया कि मनोवैज्ञानिक आयु में समयानुसार आयु से बहुत अन्तर हो सकता है। एक तीस-वर्षीया स्त्री पन्द्रह-वर्षीया के समतल भावात्मक स्तर पर पाई गई। समय की आयु के अनुसार वह वयस्क है किन्तु उसकी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ अभी भी यौवनावस्था के विशिष्ट गुण रखती हैं।

इस सबसे हमें मनुष्यों के बारे में एक नया रास्ता मिला है। अब हम यह अनुभव कर रहे हैं कि एक व्यक्ति के बारे में इतना जरूरी यह नहीं कि वह कितने वर्षों तक जीवित रह चुका है, जितनी कि वह मनोवैज्ञानिक क्षमता, जो उसे उन वर्षों में प्राप्त हुई है। *सभी बालिग वयस्क नहीं।* समय की आयु से भिन्न मनोवैज्ञानिक आयु केवल कोरी शास्त्रीय उत्सुकता का विषय ही नहीं है। एक व्यक्ति का अपने मानसिक, भावात्मक व सामाजिक विकास में साधारण, उन्नत या पिछड़ा होना एक गुप्त कारण हो सकता

है, लेकिन मुख्य कारण संसार के साथ उसके वयस्क सम्बन्धों में मिलेगा।

मनोवैज्ञानिक आयु की विति का सार्वजनिक चेतना में प्रवेश अभी आरम्भ हुआ ही है। हम साधारणतया केवल बच्चों तक ही इसके प्रयोग से परिचित हैं। किन्तु हम बड़ी आयु के स्त्री-पुरुषों के उन लक्षणों के प्रति सचेत हो रहे हैं जो हमें उनकी मनोवैज्ञानिक अपरिपक्वता का भान कराते हैं। उदाहरणतः उनसे हमें यह चेतावनी मिलनी चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों को हमारे समाज में सफलता के मानदण्ड कायम करने या अन्य व्यक्तियों के जीवनों को प्रभावित करने के बड़े अवसर न दिये जायँ। इसके अलावा अब हम यह पूछना केवल आरम्भ कर ही रहे हैं कि किस प्रकार मनोवैज्ञानिक अपरिपक्वता को दूर किया जा सकता है। हम अभी केवल आरम्भ-मात्र ही कर रहे हैं, किन्तु स्वयं अपने-आपको और अपने साथी मनुष्यों को आँकने का यह नया मनोवैज्ञानिक तरीका निश्चित रूप से प्रकाशित हो चुका है। जब यह मनोवैज्ञानिक तरीका हमारी चेतना में निश्चित व स्पष्ट रूप से प्रविष्ट हो जायगा तो हम मानव-आचरण को ऐसे नये तरीके से आँकना आरम्भ करेंगे जो एक नये समाज की भूमिका होगी।

प्रतिरुद्ध विकास या स्थिरीकरण का स्पष्टीकरण करने वाले दूसरे विचार का स्रोत फ्रायड के युगान्तर आरम्भ करने वाले कार्य में है। उन्होंने कुछ ऐसे रोगों के कारणों की खोज आरम्भ की जिन्होंने शताब्दियों तक चिकित्सा-विज्ञान को तथा उन्हें स्वयं अपने चिकित्सा-कार्य में काफी परेशान कर रखा था। ये रोग शारीरिक प्रतीत होते थे किन्तु फिर भी ये शारीरिक चिकित्सा से ठीक नहीं हुए—लकवा 'सच्चा' लकवा नहीं था; अन्धापन घटकसंघ में किसी प्रकार के ह्रास के कारण नहीं हुआ था; यही बात वमन, कम्पन, स्पन्द-विकृति, स्मरण-विकृति, बधिरत्व (बहरापन), चित्तभ्रम, भय, अप्रतिकार्य-कल्पना, हठ-प्रवृत्ति आदि की व्याधियों में लागू होती थी।

फ्रायड ने आरम्भ में मोहनिद्रा (हाइपनोसिस) का तरीका शुरू करके बाद में उसे सर्वथा छोड़ दिया और अपने रोगियों के व्यक्तित्व की गहराइयों का अध्ययन आरम्भ किया। एक प्रकार से उन्होंने चिकित्सा-प्रणाली में एक

अभूतपूर्व तरीका अपनाया। उन्होंने अपने रोगियों को स्वयं अपनी बात कहने दी; जो कुछ उनके मन में आता उसी को कहने के लिए फ्रायड ने उन्हें प्रोत्साहित किया; विशेषतः उन्होंने उन्हें अपने बचपन की खोई हुई घटनाओं को याद दिलाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार उन्होंने यह एक युगान्तर आरम्भ करने वाली खोज की कि वयस्कों के बहुत से जटिल रोग बचपन की अनिर्णीत भावनाओं के संघर्ष के कारण आत्मा से उत्पन्न होते हैं।

मुख्य विचार था अनिर्णीत भावनाओं के संघर्ष का। उन्होंने यह खोज निकाला कि जहाँ एक बच्चे को उसकी बुनियादी भावात्मक सुरक्षा के लिए खतरा पैदा करने वाला तीव्र अनुभव हुआ हो, तथा जहाँ बच्चा अपनी अपरिपक्वता के कारण उस अनुभव को न समझ सका हो या उस अनुभव को अपने विकास के दौरान में अंगीकार न कर पाया हो और जहाँ किसी रुकावट या निषेध के कारण बच्चे को अपने माता-पिता से अपनी समस्या कहने की आज्ञा न दी गई हो वहाँ विचारों के आन्तरिक संघर्ष के उलझे रहने की सम्भावना है। यह अनुभव बच्चे के साधारण जीवन-प्रवाह में घुलकर उसे परिपक्वता की ओर बढ़ने में सहायता देने की अपेक्षा उसके अबोध मन में जमकर बैठ जायगा। वहाँ यह एक भीषण अपराध या अयोग्यता की भावना के रूप में बना रहेगा और फिर यह भावात्मक व्यतिक्रम की उपज का कारण बनेगा।

फ्रायडवाद की सम्पूर्ण प्रणाली में हमारी कोई दिलचस्पी नहीं, हमारा सम्बन्ध यहाँ फ्रायड की केवल एक अन्तर्दृष्टि से है जो अकाट्य जान पड़ती है तथा जो मनुष्य की परिपक्वता की समस्या पर अत्यन्त गहन रूप से प्रकाश डालती है। यह वह अन्तर्दृष्टि है जो बताती है कि जीवन-निर्माण के वर्षों में किसी भावात्मक संघर्ष के उलझे रह जाने पर वह गायब न होकर एक पके घाव की तरह बना रहता है और जो बाद के जीवन-काल में भयंकर, भावात्मक व्यतिक्रम या व्यापक अशांति का रूप ले लेता है।

कोई भी व्यक्ति उस समस्या को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता जिसका उस

पर गहरा भावात्मक प्रभाव पड़ा हो, जब तक कि वह उससे समझौता नहीं कर लेता; उसे समझ नहीं लेता; अपनी जिन्दगी के ढाँचे में उसे बिठा नहीं देता; या यदि सम्भव हो तो उसे पूरी तरह सुलझा नहीं लेता। इस प्रकार की एक उलझी समस्या तथा उसकी घातक शक्ति से आगे बढ़ने की अपेक्षा वह व्यक्ति विकास के उसी स्थल पर स्थिर हो जाता है जहाँ उसकी उस समस्या से मुठभेड़ हुई थी। प्रौढ़ावस्था में मज्जाविकृति इस बात का चिह्न है कि जीवन-निर्माण के वर्षों में किसी समय विकास इस प्रकार रुक गया था।

सभी अपरिपक्व प्रौढ़ विकृतमज्ज नहीं होते, किन्तु जहाँ कहीं भी वयस्क-अपरिपक्वता मिलती है वहाँ परिपक्वता के विकास में रुकावट का मूल कारण यही प्रतिरुद्ध विकास या स्थिरीकरण है। संक्षेप में एक वयस्क में मानसिक, भावात्मक तथा सामाजिक अपरिपक्वता का होना कोई अबोध रहस्य नहीं है; कम-से-कम फ्रायड के समय से यह रहस्य नहीं रहा। इस प्रकार की अपरिपक्वता यह प्रकट करती है कि वयस्क व्यक्ति अभी भी अपने जीवन के विभिन्न सम्बन्धों की समस्या का हल *लड़कपन के तरीकों से* करने का यत्न कर रहा है।

परिपक्वता को समझने में प्रतिरुद्ध विकास या स्थिरीकरण के कारणों में फ्रायड की अन्तर्दृष्टि सर्वाधिक महत्त्व रखती है। सबसे पहले यह हमारा ध्यान जीवन-निर्माण के वर्षों की ओर केन्द्रित करती है। वयस्कों में यदि एक अच्छी परिपक्वता दुर्लभ है तो उसका मुख्य कारण हम उन हजारों तरीकों के प्रति सर्वप्रचलित अनभिज्ञता में पाते हैं, जिनके कारण जीवन के प्रारम्भ के दिनों में विकास रुक सकता है। अगर हम भविष्य के वयस्क व्यक्तियों में अधिक परिपक्वता चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम शैशव व बचपन के उन तमाम वर्षों तथा उन वर्षों में उत्पन्न होने वाली तमाम भावात्मक समस्याओं की ओर, जहाँ तक हो सके, बुद्धिमत्तापूर्ण ध्यान दें।

इस अन्तर्दृष्टि का दूसरा महत्त्व यह है कि यह हमें वयस्क व्यक्तियों के आचरण में भेद-बोधन कराने की क्षमता देती है कि कौनसा आचरण

सचमुच परिपक्व है और कौनसा बालकीय। हम अपनी सामाजिक बुद्धि में एक नई प्रखरता पैदा कर लेते हैं जबकि हम यह प्रश्न करना सीख लेते हैं कि "क्या यह पुरुष (या स्त्री) अपनी समस्याओं को वयस्क तरीके से सुलझा रहा है या बालकीय तरीके से ?"

तीसरा महत्त्व है—हमारा उन उपायों को ढूँढने लगना जिनके द्वारा इस प्रकार के अविकसित वयस्कों की विकास-प्रगति को पुनः कायम किया जा सके। जहाँ कहीं भी हम वयस्कों को परिपक्वता के सम्पन्न अनुभव से हीन पाते हैं या उन्हें दूसरों के लिए भय व कष्ट उत्पन्न करते हुए देखते हैं, तो हम केवल यह कहकर सन्तुष्ट नहीं हो सकते कि "आह! वह केवल एक वयस्क बालक है," या "वह स्त्री हृदय से केवल बालिका है।" यह जानते हुए—कि ये 'छोटे बालक व बालिकाएँ', जो शारीरिक दृष्टि से वयस्क हैं तथा जिनमें वयस्कों की शक्ति है, ऐसे संसार में जिन्हें परिपक्वता की अत्यन्त आवश्यकता है, व्यापक रूप से शरारत कर सकते हैं—हम यह पूछने लगते हैं कि किस प्रकार इन 'छोटे व्यक्तियों' को अपनी आयु के अनुसार काम करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके अलावा हम यह भी पूछने लगते हैं कि किन पारिवारिक व स्कूल के तथा अन्य विभिन्न सांस्कृतिक व्यवहारों ने इस प्रकार उन्हें अपनी अवस्थानुसार कार्य करने में हतोत्साह किया है।

इस प्रकार प्रतिरुद्ध विकास अथवा स्थिरीकरण-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि हमें मनुष्य के जन्म से मरण तक—शैशव, बाल्यकाल, यौवन तथा प्रौढ़ावस्था के सारे जीवन-विकास पर पुनः दृष्टि-निक्षेप करवाती है। यह हमें जीवन के 'निर्णयात्मक' वर्षों तथा 'निर्णयात्मक' अनुभव से परिचित कराती है। यह हमें जीवन के प्रति नई गम्भीरता प्रदान करती है कि किस प्रकार जीवन का विकास किया जाना चाहिए।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में एक रूसी शरीर-रचना-शास्त्री इवान पावलोव ने एक कुत्ते पर एक प्रयोग किया था। यह एक साधारण-सा हमेशा होने वाला प्रयोग जान पड़ता था किन्तु अपने परिणामों में यह

साधारण नहीं था। यह एक मौलिक प्रयोग था जिससे एक नया ज्ञान पैदा हुआ कि हम जैसे हैं वैसा कौन हमें बनाता है और किस तरह हमें सर्वथा भिन्न प्राणी बनाया जा सकता है।

कुत्ता, मांस व घंटी के प्रयोग काफी प्रसिद्ध हैं और उनके दुबारा वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। असली बात पावलोव की इस खोज में है कि किस प्रकार हमारे प्राकृतिक गठन में कृत्रिम उत्तेजना का समावेश किया जा सकता है। मांस लाये जाने पर कुत्ते के मुँह से लार टपकना 'स्वाभाविक' है। किन्तु कोई भी पहले से ऐसा नहीं समझेगा कि घंटी बजने पर कुत्ते के मुँह में लार आनी चाहिए। किन्तु मांस आने पर हर बार घंटी बजवाकर पावलोव ने कुत्ते के स्वभाव को इस प्रकार अभिसन्धित कर दिया कि कुत्ते के मुँह में लार मांस के बिना भी केवल घण्टी बजने पर ही आने लगी। इस परीक्षण तथा इसके बाद के अन्य परीक्षणों ने हमारी शताब्दी की विचारधारा में '*अभिसन्धित प्रतिक्षेप*' को जन्म दिया; और यह एक प्रमुख विचार है जिससे *परिपक्वता-वित्ति* का निर्माण करने में सहायता मिल सकती है।

इससे हमें इस बात का पता चलता है कि कुत्ते के स्वभाव की तरह मनुष्य का स्वभाव स्थिर तथा न बदला जा सकने वाला नहीं है। मनुष्य को असंख्य तरीकों से ऐसा अभिसन्धित किया जा सकता है जैसा कि वह अपनी मूल प्रकृति से नहीं है। हम मनुष्य को एक वायुयान नहीं बना सकते, किन्तु हम उसे वायुयान-निर्माता बना सकते हैं; हम उसे एक अणुबम नहीं बना सकते, किन्तु हम उसे एक ऐसा प्राणी बना सकते हैं जो अणुबम के बनाने तथा उसके प्रयोग की आवश्यकता को अनुभव करता है। हमारे मानवीय स्वभाव की सीमाओं के भीतर असीम सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं। हमने पृथ्वी पर अपनी सहस्राब्दियों के सम्पूर्ण इतिहास में अपने-आपको जो-कुछ बनाया है वह केवल उसका प्राथमिक रूप है जो हम अपने-आपको बना सकते हैं। उपयुक्त उद्दीपकों के प्रयोग से पुराने आदम को नये आदम के रूप में बदला जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर आधुनिक संसार में पृथ्वी के अधिकांश निवासी

राष्ट्रवाद की धारणा के अभ्यस्त हो चुके हैं। मनुष्य केवल मनुष्य होते हुए भी सबसे पहले वह एक अमरीकी, रूसी या जर्मन है। और भी अधिक उपयुक्त रूप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि पावलोव के परीक्षण के अनुसार आधुनिक मनुष्य एक मानव के रूप में उत्पन्न हुआ था, किन्तु 'मांस और घण्टी' की तरकीब को बार-बार दोहराकर अमरीकी, रूसी या जर्मन बना लिया गया है। कहने का तात्पर्य है कि उसे ऐसी अवस्था में ले आया गया है जहाँ वह स्वत: अपने राष्ट्र की शक्ति तथा शाश्वतता के साथ अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को मिला देता है। वास्तव में उस राष्ट्र से सम्बन्ध रखने का अनुभव उसके लिए इतना आत्मिक महत्त्व रखता है कि वह उसे सुरक्षित रखने के लिए अपने जीवन तक का खतरा उठा सकता है। हमारे समय की मनोवैज्ञानिक घटनाओं में सबसे अधिक दिलचस्प घटना यह है कि 'मांस व घण्टी' की एक नई समाकृति पुरानी समाकृति को चुनौती दे रही है—थोड़ा-थोड़ा करके नये उद्दीपक तथ्यों की उपस्थिति में मनुष्य पर दबाव डाला जा रहा है कि वह अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि और एक विश्व के विचार को स्वेच्छा से संयुक्त कर दे। अर्थात् संयुक्त रहने की उसकी स्वाभाविक आवश्यकता को एक दूसरे उद्देश्य से सम्बद्ध किया जा रहा है, एक जाति या राष्ट्र से नहीं अपितु एक संयुक्त मानवता से। यदि यह नवीन अभिसन्धित सम्पर्क दृढ़ता से स्थापित हो पाता है, जिससे एक साधारण व्यक्ति अपने-आपको विश्व का नागरिक समझने में वही अनुभव करे जैसा कि वह एक राष्ट्र का नागरिक समझने में करता आया है, तो इसका श्रेय पावलोव की प्रणाली को होगा।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक चौथी मूलभूत अंतर्दृष्टि वैयक्तिक अनन्यता का बोध है। १८८५ में मानस-शास्त्री कार्ल स्टम्फ ने संगीत-चातुर्य के परीक्षणों पर कार्य आरम्भ किया। उस समय से अन्य मानस-शास्त्री इस विशेष अनन्यता को अलग करने तथा उसकी शक्ति आँकने का प्रयत्न करते रहे हैं। यह स्पष्ट है कि जहाँ तक संगीत-प्रथा का सम्बन्ध है सभी व्यक्ति कभी भी किसी प्रकार से समान नहीं थे। कई व्यक्तियों में

संगीत-कुशलता बिलकुल भी नहीं जान पड़ती थी; अन्य कइयों में संगीत-स्वरों व लयों को सराहने व समझने की अत्यन्त अधिक शक्ति थी।

संगीत-कौशल का परीक्षण केवल आरम्भ ही था। शीघ्र ही यह पाया गया कि एक और विशिष्ट कार्य-शक्ति में व्यक्तियों में अन्तर था; यह यान्त्रिक कार्य-कौशल की शक्ति थी। इसके बाद इस विशेष प्रज्ञा को व्यक्ति से भिन्न करने तथा मापने के लिए खोजें आरम्भ हुईं। चिकित्सा-सम्बन्धी तथा कला-सम्बन्धी गुणों को मापने के भी प्रयत्न किये जा चुके हैं, यद्यपि उनमें अभी कम सफलता मिली है।

इस सबसे जो-कुछ पता लगता है वह विभिन्न गुणों की केवल एक उपयोगी सूची से कुछ ही अधिक है। इन सब बातों से व्यक्ति के विकास-सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण बात निकलती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति में एक अनन्य शक्ति या गुण है तो उस व्यक्ति का विकास उसी गुण की दिशा में सर्वाधिक श्रेष्ठ होगा, उसकी मुख्य शक्ति की विपरीत दिशाओं में उसको विकसित करने का प्रयत्न करना उसे विफल बनाने के लिए अभिसन्धित करना होगा। इसी प्रकार यदि एक गैर-यांत्रिक मस्तिष्क के व्यक्ति को यन्त्र-सम्बन्धी व्यवसाय में डाल दिया जाय तो वह हिचक के साथ बिगड़ा हुआ काम करेगा और हृदय में एक ज्ञात या अज्ञात विद्रोह की भावना बनाये रखेगा।

वह अपने द्वारा किये हुए कार्यों के निम्न-स्तर या अपने निरन्तर असन्तोष के लिए चाहे जितना अपने को दोषी ठहराये किन्तु अपनी निन्दा या आलोचना अथवा अधिक शिक्षा प्राप्त कर योग्य बनने के उसके सारे प्रयत्न भी उसकी अपनी कार्य-शक्ति की मौलिक कमी को पूरा नहीं कर सकते।

अथवा वह केवल आत्मानुकम्पन की शरण ले सकता है, वह अपनी असफलताओं का कारण किसी दुर्भाग्य, अपने से ऊँचे व्यक्ति की ईर्ष्या, घर में सहानुभूति व सहायता की कमी, आरम्भ की खराबी अथवा अपने कार्य की सराहना के अभाव को मान सकता है। यदि इस प्रकार वह अपने ऊपर दया दिखाता हुआ चल जायगा तो वह जीवन-भर के लिए इसी कार्य में बँध

जायगा जोकि स्वस्थ विकास को असम्भव बना देता है।

अथवा वह सदैव सार्वत्रिक विरोध की ओर बढ़ता जायगा परन्तु इस विरोध का स्रोत अपने कार्य-जीवन में ढूँढ़ने का कभी प्रयत्न नहीं करेगा। उदाहरण के तौर पर यदि वह उन आधुनिक दुखी कर्मचारियों में से है, जो अपने प्रतिदिन के श्रम को केवल आय का साधन मानने लगे हैं और उससे सन्तोष-प्राप्ति की आशा नहीं रखते, तो ऐसे व्यक्ति को कभी भी यह खयाल नहीं होगा कि एक ओर उसके जल्दी-जल्दी आने वाले गुस्से तथा स्थिर पूर्वग्रहों में तथा दूसरी ओर उसकी कार्य-अव्यवस्था के बीच कोई सम्बन्ध है।

परिपक्व व्यक्ति का विशिष्ट गुण यह है कि वह जीवन-विधान करता है। जीवन-विधान के लिए उसे जीवन-व्यापार में दिल और दिमाग से लगे रहना पड़ता है। न वह व्यक्ति, जो अपने-आपको असफल मानता है, और न वह जो सचेत या अचेतावस्था में अपने जीवन-क्रम से क्षुब्ध बना रहता है—यह अनुभव कर सकता है कि उसका दिल और दिमाग जीवन-व्यापार में संलग्न हैं। यह अनुभव उसी व्यक्ति के लिए सुरक्षित है जिसकी पूरी शक्तियाँ अनुसूचित हैं। तो यह है चौथी अन्तर्दृष्टि का अभिप्राय—परिपक्व होने के लिए व्यक्ति को अपनी शक्तियों का भान होना चाहिए और अपने जीवन के लिए उन्हें सक्षम बनाना चाहिए। सुकरात ने कहा था कि अपने-आपको जानो। आधुनिक सुकरातों का कहना है कि अपनी कार्य-शक्तियों को पहचानो।

१९२८ में एडवर्ड थार्नडाइक ने *वयस्क-शिक्षा* नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें इस पुरानी निर्धारित धारणा को उलट दिया गया कि बचपन सीखने का समय और वयस्कता *सीख* चुकने का समय है।

मनोवैज्ञानिक दत्तविषयों के अत्यधिक परीक्षण तथा वयस्कों पर किये गए विशेष प्रकार के विभिन्न परीक्षणों के आधार पर थॉर्नडाइक की पुस्तक में इस निर्धारित निष्कर्ष की घोषणा की गई कि वयस्क सीख सकते हैं।

उसने कहा था कि वयस्कों द्वारा अपने-आपको सीखने लायक न समझने का मुख्य कारण यह है कि उनके कुछ *अपने आन्तरिक तत्त्व या अपनी*

संस्कृति के कुछ *तत्त्व* उनके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करते हैं। उनके आन्तरिक तत्त्व कई प्रकार के हो सकते हैं—किसी विशेष विषय को सीखने के लिए विशेष गुण का अभाव; जहाँ अभ्यास की कमी है वहाँ उचित ध्यान देने की इच्छा की शिथिलता; शिक्षा ग्रहण करने की रीति से अनभिज्ञता; शिक्षा में बाधक आदतों, विचारों या भावात्मक प्रवृत्तियों के विषय में ज्ञान न होना आदि। *संस्कृति के अन्तर्गत* बाधाएँ वयस्क शिक्षा की असाधारणता से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि संगठित शिक्षा वयस्क-जीवन की आदतों के ढाँचे से बाहर की चीज है।

थार्नडाइक द्वारा आरम्भ किये गए कार्य को अन्य मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षकों द्वारा आगे बढ़ाने पर यह और अधिक स्पष्ट हो गया है कि वयस्क केवल शिक्षा ही ग्रहण नहीं कर सकते, बल्कि उनकी शिक्षा को रोकना तथा संसार में जहाँ परिवर्तन की समस्या का नित्य सामना करना पड़ता है, उन्हें एक दुःखद अथवा उपेक्षापूर्ण अपरिवर्तनता में स्थिर कर देना सम्पूर्ण समाज के लिए खतरनाक है।

इस प्रकार परिपक्वता की वित्ति को यह पाँचवी मनोवैज्ञानिक देन है। चाहे बड़ी उम्र के कुत्ते नई चालें सीख सकते हों या न हों लेकिन वयस्क व्यक्ति अवश्य नई बातें सीख सकते हैं और उन्हें जीवन-पर्यन्त नये तथ्यों और अन्तर्दृष्टियों को सीखते रहना चाहिए।

आधुनिक काल के आरम्भ से विज्ञान ने सफलता पाने के लिए विभाजन का तरीका अपनाया है। इस तरीके द्वारा विज्ञान ने हमारे सम्मुख अणु के व्यवहार से लेकर समस्याग्रस्त मानव-मस्तिष्क के व्यवहार तक के तथ्यों का एक ऐसा संकलन किया है जो प्रायः अविश्वसनीय प्रतीत होता है। हमने विशेष प्रकार की सूचनाओं का एक बड़ा भारी ढेर इकट्ठा कर लिया है। अब, प्रत्यक्षतः, विज्ञान सफलता के लिए एक नया तरीका अपनाने के लिए तैयार है और यह तरीका एकीकरण का है। खोज के लिए जिसका विभाजन-पर-विभाजन किया गया। अब व्याख्या करने तथा मानव-व्यापार में उसे क्रियान्वित करने के लिए दुबारा इकट्ठा किया जा रहा है।

यहाँ तक कि समाचारपत्रों के लिए भी यह एक नया समाचार है कि अणु-विज्ञानवेत्ता, समाजशास्त्री तथा मानसशास्त्री एक-साथ बैठकर मानव के भविष्य के सम्बन्ध में अपने विभिन्न ज्ञानों को एक ज्ञान में इकट्ठा करने का प्रयत्न करते हैं। समाचार की दृष्टि से यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है यद्यपि अभी इसे समाचारपत्र के मुख्य शीर्षक का स्थान नहीं मिला है कि विभिन्न वैज्ञानिक अनुशासनों के अन्तर्गत पुनः संश्लेषण का व्यापार चालू है। उदाहरण के तौर पर मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में अत्यन्त सही और सूक्ष्म खोज के लिए विभाजित किये गए मानव को पुनः पूर्ण रूप दिया जा रहा है। जो अनुसन्धान विभिन्न दिशाओं में जा रहे प्रतीत होते थे अब सब एक ही मार्ग पर पहुँच रहे हैं।

परिपक्वता की वित्ति एकीकरण तथा संकलन के इस तरीके की ही एक उपज है। इसके अन्तर्गत पारस्परिक प्रकाश तथा संगठित शक्ति के लिए मनुष्य के स्वभाव तथा आचरणों की उन मुख्य अन्तर्दृष्टियों का एकीकरण किया गया है, जिनकी खोज मनोविज्ञान तथा मानसोपचार-विज्ञान द्वारा हुई है और जो अब तक अधिकांशतः अलग रहती चली आई हैं।

उदाहरण के लिए बिनेट व फ्रायड या पावलोव व थर्नडाइक के बारे में एक-साथ एक ही समय बात करना प्रचलित नहीं रहा है। इसी प्रकार अनन्य वैयक्तिक कार्य-शक्ति-सम्पन्न प्राणी तथा अबोध मन में अनिर्णीत समस्याओं की उपस्थिति के कारण बाल्यकाल के स्तर पर स्थिरीकरण हुए प्राणी की चर्चा एक ही साँस में एक-साथ करना अप्रचलित रहा है। अब यह स्पष्टतः प्रत्यक्ष है कि तमाम मनोविज्ञान-शास्त्री व मानसोपचार-शास्त्री, जो मनुष्य की प्रकृति के विषय में सच्ची अन्तर्दृष्टि का निरूपण करते हैं, एक ही विषय का अनुसरण कर रहे हैं। उनका विषय मनुष्य है। अतः जो-कुछ एक कहता है वह दूसरे के कथन से सर्वथा असंगत नहीं हो सकता। उन सबका संयुक्त कथन मानव-स्वभाव के अनुकूल संसार बनाने के हमारे कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। मानव-स्वभाव में जो-कुछ संयुक्त किया गया

है उसे केवल खोज के लिए ही पृथक् किया जा सकता है। किन्तु अन्ततः जीने के लिए उसका पुनःसंकलन करना ही होगा।

जब बिनेट ने घोषणा की कि मनोवैज्ञानिक विकास शारीरिक विकास के साथ स्वयंमेव एक गति से नहीं होता तो वह एक विशेष, जान-बूझकर सीमित किये हुए परीक्षणों के विषय में कह रहा था। किन्तु फिर भी शारीरिक प्रौढ़ता प्राप्त होने से बहुत पहले भावात्मक विकास के रुक जाने के बारे में बिनेट और फ्रायड के कथनों में बहुत-कुछ सम्बन्ध है। इसी प्रकार फ्रायड की अन्तर्दृष्टि तथा पावलोव की अभिसन्धित प्रतिक्रिया के अध्ययन में भी एक सम्बन्ध है। उदाहरण के तौर पर फ्रायड ने प्रतिरुद्ध विकास का एक कारण विभिन्न सांस्कृतिक रुकावटों तथा लैंगिक निषेधों को बताया है, जो बच्चों का अपराध की भावना से दूर रहना असम्भव बना देते हैं, उनका अपने ही स्वभाव के विषय में जानकारी प्राप्त करना असम्भव कर देते हैं। किन्तु एक निषेध के प्रति बच्चे की प्रतिक्रिया एक *अभिसन्धित प्रतिक्रिया* है : पावलोव ने इसके संस्थापन की प्रक्रिया पर स्पष्ट प्रकाश डाला।

संगठित शिक्षा ग्रहण करने में अधिकांश वयस्कों द्वारा लज्जा अनुभव करने के कारणों का थार्नडाइक का विश्लेषण जब हम देखते हैं तो '*अभिसन्धित प्रतिक्रिया*' के सिद्धान्त को इतना ही स्पष्टीकरण करने वाला पाते हैं। वयस्कों में यह विचार बैठा दिया गया है कि शिक्षा ग्रहण करना बच्चों का काम है। थार्नडाइक जब इसके अतिरिक्त '*स्वयं मनुष्य के भीतर स्थित*' प्रतिविरोध के विषय में कहता है तो हम तुरन्त ही फ्रायड तथा उसके अनुयायियों द्वारा कही गई बातों को सोचने का कारण रखते हैं।

इस प्रकार जब हम इन विभिन्न अन्तर्दृष्टियों का एकीकरण करने वाले तथा उनकी एक अन्तर्दृष्टि में रचना करने वाले सम्बन्धों की खोज करते हैं तो पाते हैं कि मानस-शास्त्रियों एवं मानसोपचार-शास्त्रियों की संयुक्त रूप से घोषणा है कि मनुष्य का काम परिपक्व होना है—मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक, दोनों रूप में परिपक्व होना; अपने अनन्य गुण के आधार पर तथा अपने साथी मनुष्यों के साथ भली प्रकार मेल रखने वाले गुणों के आधार

पर परिपक्व होना है और परिपक्वता की इस प्रक्रिया को जीवन-भर जारी रखना है। यही *परिपक्वता-वित्ति* है। यही वह वित्ति है जो हमें २०वीं शताब्दी में चुनौती दे रही है और साथ ही आशा प्रदान कर रही है।

परिपक्वता की कसौटी

परिपक्व व्यक्ति वह नहीं है जो सफलता-प्राप्ति के एक विशेष स्तर पर पहुँचकर रुक गया हो। अपितु वह *पूर्णता प्राप्त करता हुआ व्यक्ति है,* जीवन के साथ जिसके सम्बन्ध निरन्तर दृढ़ तथा सम्पन्न होते जा रहे हैं क्योंकि उसकी प्रवृत्तियाँ इन सम्बन्धों के विकास को प्रोत्साहन देने की ओर हैं, न कि उन्हें रोकने की ओर। उदाहरण के तौर पर वह व्यक्ति परिपक्व नहीं जो बहुत से तथ्यों को जानता है, अपितु वह व्यक्ति है जिसके मानसिक अभ्यास ऐसे हैं जो ज्ञानोपार्जन तथा ज्ञान के बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग में वृद्धि कर पाता है। वह व्यक्ति परिपक्व नहीं जो मानव-सम्बन्धों को परिवार, मित्र, परिचितों व सहकर्मचारियों तक ही निश्चित रूप से सीमित कर आगे बढ़ना न चाहता हो और जो शेष मानव-जाति को महत्त्वहीन समझकर उसकी उपेक्षा करता हो। इसके विपरीत वह व्यक्ति परिपक्व है जो मानव-वातावरण में रहकर उचित व्यवहार करना जानता हो, जिससे अपने प्रियजनों की श्रेणी में वह नये व्यक्तियों को ला सके और अपने पूर्व-परिचित व्यक्तियों से मैत्री के नये आधार ढूँढ़ सके।

डिडरोट ने जब चकित कर देने वाली यह बात कही कि तमाम बच्चे सारभूत रूप से अपराधी हैं तब वह वास्तव में यह कह रहा था कि मनुष्यों को अपने समीप रखना तभी ठीक है जबकि वे अपनी कार्य-शक्ति में उतने ही निर्बल हों जितने कि बुद्धि में। एक बच्चा मनुष्य की पूरी ताकत व अधिकार पाकर राक्षस बन जायगा, क्योंकि उसने जीवन के साथ अभी अपने सम्बन्ध स्थापित नहीं किये हैं, उसके सम्बन्ध केवल उसकी तात्कालिक इच्छा-पूर्ति तक ही सीमित हैं।

अतः उसे यह ज्ञान नहीं है कि उसकी शक्ति के कार्य उसकी अज्ञानता के कार्य भी होंगे। उसमें परिपक्व प्रेम नहीं है, बल्कि वह अधिकतर उन

लोगों से आत्मकेन्द्रित सुख अनुभव करता है जो उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। फलतः उसकी शक्ति के कार्य पूर्णरूप से आत्मतुष्टि के लिए किये गए होंगे। अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसकी कल्पना अभी अप्रकट है प्रत्यक्ष नहीं, अतः उसकी शक्ति के कार्य निर्दयता के कार्य होंगे। उसे धैर्य, चतुराई और श्रम के विषय में कोई ज्ञान नहीं जिन्होंने उसके आस-पास का वातावरण बनाया है, अतः उसकी शक्ति के अधिकांश कार्य विध्वंसकारी होंगे। उसमें चूँकि अभी चारित्रिक स्थिरता, औचित्य के नियमों और जीवन का अर्थ तथा मनुष्य के उचित कार्य के ज्ञान का अभाव है अतः उसकी शक्ति के कार्य अस्थिर एवं चंचल मन की उपज होंगे। संक्षेप में, एक मनुष्य का अपनी शारीरिक शक्ति तथा आत्म-नियमन का बढ़ाना तभी खतरे से खाली है जबकि वह ज्ञान तथा भावना के ऐसे सम्बन्धों का निर्माण कर रहा है जो उसके कार्य को रचनात्मक बनाते हैं, विध्वंसात्मक नहीं; समाजसेवी बनाते हैं, समाज-विरोधी नहीं।

हमारे समाज के सबसे अधिक खतरनाक वे वयस्क व्यक्ति हैं जिनमें दूसरों को प्रभावित करने की ताकत तो वयस्कों की है किन्तु जिनके हेतु तथा प्रतिक्रियाएँ बच्चों-जैसी हैं। वयस्क में कुछ ऐसी विशेष शक्तियाँ होती हैं जो बच्चे में नहीं होती। उसमें शारीरिक ताकत होती है। यदि वह अब भी एक क्षुब्ध बच्चे की तरह क्रोध के साथ जीवन पर आघात करता है तो वह शारीरिक अपरिपक्व व्यक्ति की अपेक्षा अधिक विनाश कर सकता है और अधिक पीड़ा पहुँचा सकता है। इसके अलावा उसका किसी-न-किसी पर अधिकार होता है—वह माँ या बाप, शिक्षक, मालिक, फोरमेन, क्लब का अफसर, सरकारी कर्मचारी या बहुसंख्यक दल का एक वह सदस्य हो सकता है जिसे अल्पसंख्यक दल के सदस्यों को 'उनकी जगह' रखने की आज्ञा मिली हुई हो। शायद ही कोई ऐसा वयस्क हो जिसका किसी दूसरे पर अधिकार न हो। अतः एक वयस्क व्यक्ति में, जिसके भावात्मक सम्बन्ध जीवन के साथ अभी अविकसित हैं, एक बच्चे की अपेक्षा अन्य व्यक्तियों को दुखी बनाने की अधिक ताकत है। इसके अलावा वयस्क व्यक्ति को अपनी

प्राकृतिक शक्ति में स्वामित्व तथा सदस्यता द्वारा कृत्रिम शक्ति को मिलाने के बहुत से तरीके प्राप्त हैं। वह एक मोटरगाड़ी चला सकता है और उसकी ताकत का प्रयोग अपनी ताकत के रूप में कर सकता है; वह किसी संस्था-विशेष में सम्मिलित होकर अन्य सदस्यों के प्रभाव को किसी ऐसे मामले पर डलवा सकता है जहाँ वह अकेला अक्षम है। यदि उसके ज्ञान तथा भावना के सम्बन्ध एक पाँच साल या दस साल के बच्चे के स्तर के हैं तो वह असीम हानि पहुँचा सकता है।

तो संक्षेप में, हमें अब जीवन के कुछ उन आधारभूत सम्बन्धों की खोज करनी चाहिए जिनका एक व्यक्ति में क्रमशः विकास होना ही चाहिए, यदि उसे केवल वयस्क न होकर परिपक्व बनाना है।

मनुष्य जन्म से अज्ञानी है। उसके शरीर में एक विशेष प्रकार का प्रकृति-प्रदत्त 'ज्ञान' तो अवश्य होता है। उदाहरणार्थ एक नवजात शिशु भी दूध पीने का तरीका जानता है, जिससे वह अपना जीवन बनाये रखने के लिए आहार प्राप्त करता है। किन्तु सहज-प्रवृत्त क्रियाओं से ऊपर की बातों में नवजात शिशु सम्पूर्ण अज्ञानी है। वह अपनी परेशानी जाहिर कर सकता है, किन्तु वह यह नहीं जान सकता कि उसका कम्बल एक ओर खिसक गया है इसलिए उसे सर्दी लग रही है। *वह जीवन के पूर्ण अज्ञान के स्तर पर है जहाँ सुप्त ज्ञान की बहुलता है।*

वह उस सबको कभी नहीं जानेगा जो वह सिद्धान्त रूप से जान सकता है : यह हमारा मानव-भाग्य है कि हम अपनी शक्तियों को अविकसित छोड़कर मर जाते हैं। किन्तु वह शिशु अपना शैशव भी पूर्ण नहीं कर सकेगा, यदि वह अपने संसार के साथ किसी-न-किसी प्रकार का *'ज्ञान-सम्बन्ध'* स्थापित नहीं करता। यदि उसका यह सम्बन्ध दृढ़ नहीं है और वह निरन्तर दृढ़ नहीं बनता जाता तो वह मनोवैज्ञानिक परिपक्वता नहीं पा सकेगा।

परिपक्व कहलाने के लिए आवश्यक ज्ञान के समस्त प्रकारों की गणना करना हमारे लिए उचित न होगा। किसी एक मार्ग पर साथ जाते हुए दो

व्यक्तियों में से हो सकता है केवल एक ही व्यक्ति मार्ग के पेड़-पौधों के विषय में पूरी जानकारी रखता हो, किन्तु फिर भी इस कारण हम दूसरे व्यक्ति को अपरिपक्व नहीं कहेंगे। हम उसे तब तक अपरिपक्व नहीं कहेंगे जब तक कि इस प्रकार के ज्ञान के प्रति उसका रुख ऐसा न हो जिससे वह अपरिपक्व कहलाया जाय। यदि उसे निजी काम अच्छी तरह करने के लिए उन पेड़-पौधों के नाम तथा स्वभाव के विषय में जानकारी करना आवश्यक है, किन्तु यदि उसने इन बातों को सीखने की बजाय सिर्फ धोखे से ही काम लिया है तो हम उसे अपरिपक्व कह सकते हैं। हम उसे तब भी अपरिपक्व कह सकते हैं जब वह जिस विषय को नहीं जानता उसके जानने का बहाना बनाता हो। और तब भी वह अपरिपक्व कहलायगा जब वह अपने अन्दर किसी ज्ञान के अभाव पर अपने बचाव में कहता है कि यह ज्ञान उपार्जनीय नहीं। और हम तब भी उसे अपरिपक्व कह सकते हैं जब यह विशिष्ट अज्ञान एक प्रकार की सफल मूढ़ता तथा उसके अपने वातावरण के प्रति विरक्ति का द्योतक हो।

संक्षेप में इस या उस तथ्य का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही कोई मनुष्य ज्ञान के सम्बन्धों में परिपक्व नहीं हो जाता। यह तो ज्ञानोपार्जन के प्रति तथा उसकी अपनी स्थिति और उसके ज्ञान के बीच की गाँठ के प्रति उसके रुख पर निर्भर है।

मानव अनुत्तरदायी पैदा हुआ है। उसने अपनी इच्छा से मानव-रंगमंच पर प्रवेश नहीं किया; और अपने प्रवेश के काफी समय के पश्चात् तक वह इस विषय में अधिक कुछ नहीं कर पाता है। फिर भी यदि हम एक वयस्क व्यक्ति को रंगमंच के कार्यों में उत्तरदायी योग न देने पर उससे यह कहते हुए सुनते हैं कि उसने पैदा होने के लिए नहीं कहा था, तो हम उसे अपरिपक्व की श्रेणी में ही रखेंगे। एक व्यक्ति को उसके संसार के साथ प्रगतिशील रूप में बाँधने वाले बन्धनों में से एक उत्तरदायित्व है; और इस तथ्य के प्रति रोष या कार्यरूप में इसे पहचानने की अक्षमता, मनोवैज्ञानिक विकास में रुकावट की द्योतक है।

जीवन के साथ उत्तरदायित्व के सम्बन्ध को परिपक्वता तक पहुँचने के लिए क्रमशः तीन शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं; सर्वप्रथम एक व्यक्ति को अपने नियत कर्म को स्वीकार करना सीखना पड़ता है। जब एक वयस्क क्षुद्रता के साथ विरोध प्रकट करते हुए कहता है कि उसने पैदा होने के लिए नहीं कहा था तब वह इस साधारण-सी बात को भूल जाता है कि और किसी ने भी पैदा होने के लिए नहीं कहा था।

परिपक्वता की दूसरी शर्त है—कार्य करने की भावना का विकास होना। कोई भी व्यक्ति वहीं तक परिपक्व है जहाँ तक वह एक काम को अपना समझकर स्वीकार करता है, वह उसे किसी हद तक निपुणता से निभाता है तथा उससे अपने महत्त्व की भावना प्राप्त करता है। इस कसौटी के आधार पर वह स्त्री अपरिपक्व है जो विवाह के समस्त लाभ तो चाहती है किन्तु गृह-कार्य को व्यवस्थित रखने या परिवार के लालन-पालन पर क्षोभ प्रकट करती है। इसी प्रकार वह मनुष्य भी अपरिपक्व है जो कुटुम्ब से मिली हुई सहायता को जंजाल समझता है, जिसमें वह अपने-आपको अनजाने जकड़ा हुआ देखता है।

परिपक्वता की तीसरी शर्त है—अभ्यस्त कार्यों का विकास। एक बच्चा शुरू में यह नहीं जानता कि व्यवस्थित क्षेत्रों को किस प्रकार बनाया जाय; उसे समय का सही ज्ञान नहीं होता; एक जटिल योजना तथा उसके कारण तथा प्रभाव के विषय में सोचने की शक्ति भी उसमें नहीं होती जिससे वह अपने कार्य के परिणामों को पहले से जान सके; उसमें अवधान का विस्तार इतना छोटा होता है कि वह अपनी उद्देश्य-पूर्ति में अविरत नहीं लगा रह सकता। बहुत से वयस्क बच्चों की भाँति ही परिवर्ती तथा अस्थिर होते हैं।

मनुष्य अस्पष्टवाची पैदा हुआ है—एक विशेष अर्थ में मनुष्य को एकाकी पैदा हुआ भी समझना चाहिए। जैसे-जैसे उसका विकास होता है वह अपने तथा अपने संसार के बीच शब्दों का सम्बन्ध स्थापित करता है।

अधिकांश बच्चे अपने आसपास के लोगों की भाषा में बातचीत करना

शीघ्र ही सीख लेते हैं। लेकिन फिर भी उनमें से बहुत थोड़े ऐसे होते हैं जो अपने सारे जीवन में इस मौखिक परिपक्वता को जारी रखते हैं। वयस्क होने पर थोड़े ही व्यक्ति आत्म-विश्वास, संक्षिप्तता, मधुरता तथा स्थिति के योग्य सजगता के साथ कह सकते हैं कि अर्थ-आशय-वितरण के अनुभव में विफलता की अपेक्षा सफलता अधिक विदित है। वास्तव में हमारी परिपक्वता के किसी भी क्षेत्र में प्रतिरुद्ध विकास इतना सार्वत्रिक नहीं है जितना कि अर्थ-आशय वितरण के क्षेत्र में। इस क्षेत्र में यह इतना अधिक सार्वत्रिक है कि उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता और उसे स्वाभाविक समझा जाता है।

इस व्यापक अर्थ में भाषण की त्रुटियों के आम तौर पर पाये जाने के कारण उन पर कोई ग़ौर भी नहीं करता जैसे कि लँगड़े-लूलों के समाज में किसी एक लंगड़े-लूले पर कोई खास ध्यान नहीं दिया जायगा।

जब हम जीवन में भाषण के नियत कार्य को समझने लगते हैं, तो हम भाषण की प्रचलित अपरिपक्वता की उपेक्षा नहीं कर सकते। भाषण वह चीज़ है जिसके द्वारा हम एक-दूसरे पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं। एक माँ द्वारा बच्चे को कहे गए शब्दों से लेकर कूटनीतिज्ञों के पारस्परिक शब्दों तक भाषण द्वारा मनोवैज्ञानिक संसारों की रचना होती है। भाषण द्वारा अनुभव-जगत् में प्रवेश कर हम अपने चर्म-बद्ध एकाकीपन को दूर करने का यत्न करते हैं। इसके ही द्वारा हम अपने विचारों तथा विश्वासों को स्पष्ट करते हैं। भाषा के सार्वजनिक माध्यम द्वारा इन्हें व्यक्त कर हम खोजने लगते हैं कि इनका कोई अर्थ भी होता है या नहीं। इसके अतिरिक्त भाषा द्वारा हम अपने ज्ञान तथा अनुभव को दूसरों तक पहुँचाते हैं—परम्परा के निर्माताओं के रूप में अपने नियत मानवीय कार्य को पूरा करते हैं। अन्त में मनुष्य को सबसे अधिक सिद्ध भावात्मक सुरक्षा भाषा ही प्रदान करती है। विभिन्न आयु के व्यक्तियों पर हर्ष, भय तथा क्रोध-सम्बन्धी परीक्षणों से, उदाहरणार्थ, यह तथ्य निर्धारित हो चुका है कि जबकि आठ से नौ वर्ष तक के बच्चे शारीरिक क्रिया द्वारा अपनी प्रबल भावनाओं का प्रदर्शन करते हैं, तो युवक तथा वयस्क इस काम के लिए शब्दों का प्रयोग करते है। इस प्रकार प्राप्त किया

हुआ सुख अत्यन्त अपर्याप्त है, क्योंकि भाषाकार परिपक्वता प्राप्त किये बिना ही वे मानसिक तनाव की मौखिक अभिव्यक्ति की आयु तक पहुँच चुके होते हैं। वे आवेश के साथ हकलाने या भीषण क्रोध से एक-साथ फट पड़ने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते। इसी प्रकार अल्प शब्द-ज्ञान से वे सीमाबद्ध हैं; वे फिजूली शब्दों, तकियाकलामों और उन गँवारु कहावतों को दोहराने के अलावा कुछ नहीं कर सकते, जो लगातार प्रयोग से पहले ही अर्थहीन बन चुकी हैं और इस प्रकार उन लोगों को निजी अनुभवों की प्रबल अनन्यता को शब्दों द्वारा व्यक्त करने का अवसर ही नहीं मिलता।

अतः हम इसे मानव-सम्बन्धी एक अन्य आधारभूत तथ्य के रूप में मान सकते हैं। हमारा जीवन तभी सुव्यवस्थित कहलायेगा जबकि हमारे तथा संसार के बीच भाषा-सम्पर्क परिपक्व हो चुका हो और लगातार होता जा रहा हो।

मानव एक विरल लैंगिक जीवन लेकर पैदा हुआ है। उसे विशिष्ट तथा उत्पादनशील लैंगिक सम्बन्धों की ओर विकसित होना चाहिए।

हमारी लैंगिकता जन्मजात है। यह बाद में किसी गुप्त रूप से हमारे जीवन में प्रविष्ट नहीं होती। आरम्भ में प्रत्यक्षतः यह एक सुप्त शक्ति के रूप में रहती है। किन्तु यह आरम्भ से ही विद्यमान रहती है और अन्य व्यक्तियों के साथ हमारे सबसे अधिक दृढ़ सम्बन्धों को प्रभावित करती है; यह प्रभाव सबसे पहले माता-पिता पर पड़ता है। लैंगिक ईर्ष्या तथा आसक्ति छोटे बच्चों की भावात्मक अनुभूति में भी पाई जाती है; और यदि इन बच्चों को गलत समझा जाता है या उनसे अनुचित व्यवहार किया जाता है तो वे आत्म-सन्देह, अपराधी भावना तथा विरोध के स्रोत बन जाते हैं और यह विषमताएँ उनके अबोध मन में जमकर उनके तमाम भावी सम्बन्धों को बिगाड़ देती हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि हमारी लैंगिक प्रकृति पूर्ण विकसित होने से पूर्व विकास की कई अवस्थाओं में से गुजरती है और किसी भावात्मक अनुभव

के कारण इन अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था पर यह रुक सकती है। अब यह प्रायः सभी जानते हैं—यद्यपि कई व्यक्ति अब भी इस विचार को 'सुसंस्कृत' नहीं मानते कि छोटे बच्चे एक ऐसी अवस्था में से गुजरते हैं जब अपने से विपरीत लिंग के माँ या बाप के प्रति उनका विशेष लगाव होता है। हमने अब यह जान लिया है कि विलैंगिक अनुभव का यह प्रथम काल अनेक अनिर्णीत मानसिक संघर्षों का स्रोत है और ये संघर्ष बाद में अबोध-मन में अपना घर बना लेते हैं। यह भीषण संघर्ष का काल है—बच्चे की मनोभावनाओं के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि वह यह नहीं जानता कि अपनी इन मनोभावनाओं को जीवन में किस प्रकार ठीक बिठाया जाय। वह माँ-बाप दोनों पर ही निर्भर है; उससे दोनों को ही प्यार किये जाने की आशा है। उनमें से एक पर क्रोध प्रकट करते हुए—यहाँ तक कि उसकी मृत्यु की भी कामना करते हुए—वह भय तथा अपराध दोनों से क्षुब्ध हो जाता है; उसके जीवन की सुरक्षा को आघात होता है; किन्तु वह जो-कुछ वास्तव में अनुभव करता है उसे स्वीकार करने में असमर्थ है।

लैंगिक विकास की अन्य अवस्थाएँ स्वयमेव कालानुसार चलती जाती हैं और हरेक अवस्था के अपने-अपने संकट होते हैं। बढ़ते हुए बच्चे एक साधारण 'समलिंग कामुकता' की अवस्था में से गुजरते हैं। इस अवस्था में लड़कियाँ लड़कियों को पसन्द करती हैं और लड़कों को नापसन्द करती हैं; लड़के लड़कों को चाहते हैं तथा लड़कियों के घुँघराले बालों या उनकी चारित्रिक त्रुटियों को सहन नहीं कर पाते। यदि इस अवस्था पर वे अपनी विलैंगिक समस्याओं को भली प्रकार सुलझाने के पश्चात् पहुँचते हैं तो समलिंग कामुकता में स्थायी रूप से उनके स्थिरीकरण होने की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु यदि वे अपने साथ पहले ही अनिर्णीत अपराध का भार लिये हुए हैं तो सम्भव है कि वे यदि शारीरिक नहीं तो मनोवैज्ञानिक समलिंग कामुकता की वयस्कता की ओर अग्रसर होंगे। एक लड़की स्त्री बनकर भी सभी मनुष्यों को असंस्कृत तथा ओछा समझ सकती है, इसी प्रकार एक लड़का पुरुष बनने पर भी स्त्री को तुच्छ समझ उसका तिरस्कार करता

है और अपने-आपको पुरुष-समुदाय में ही अत्यन्त सुखी पाता है।

यौवन-प्रवेशावस्था अत्यधिक विलिंग-कामुकता की द्वितीय अवस्था है। अब, प्रेम का पात्र विरोधी लिंग की माता या पिता नहीं है बल्कि समवयस्क दल का एक सदस्य होता है। यौवन-प्रवेशावस्था के समस्यापूर्ण काल होने के कई कारण हैं। ग्रन्थि-सम्बन्धी तथा अन्य शारीरिक परिवर्तन इतनी अधिक व्याकुल कर देने वाली शीघ्रता के साथ होते हैं तथा ऐसे मानसिक तथा भावात्मक परिवर्तन उनका अनुसरण करते हैं कि व्यक्ति अपने-आपको भी मुश्किल से पहचान पाता है। और यह, कम-से-कम हमारी संस्कृति में, एक ऐसा समय है जब लड़के या लड़की का, वयस्क होने पर स्वतन्त्र होने की आवश्यकता रखते हुए भी, माता-पिता के आदर्शों के साथ प्रायः हमेशा संघर्ष होता रहता है। चूँकि प्रचंड लैंगिक भावना तथा अपने-आपको स्वतन्त्र व्यक्ति सिद्ध करने की प्रचंड आवश्यकता समकालीन हैं अतः वे परस्पर विलीन होने लगती हैं, और स्वतन्त्रता स्थापित करने का एक बेहतर तरीका लैंगिक आदर्शों का उपहास करना हो जाता है। विरोधी लिंग के व्यक्तियों के साथ अधिकांशतः स्थायी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते। वे कभी प्रेम करते हैं, कभी छोड़ते हैं। अन्य कई बातें—जो स्वयं लिंग-सम्बन्धी नहीं हैं, जैसे कि अपने व्यावसायिक भविष्य के बारे में चिन्ता या निजी जीवन बनाने से पूर्व ही युद्ध में भेजे जाने का निरन्तर भय—यौवनोन्मुख व्यक्ति की भावात्मक अशान्ति में वृद्धि तथा लैंगिक जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को प्रभावित कर सकती हैं। संक्षेप में, कई संघर्ष यौवनोन्मुखावस्था की लैंगिक विततियों को उभार देते हैं और यदि वे अनिर्णीत रहते हैं तो स्थायी अपरिपक्वता को प्रोत्साहित कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति लैंगिक रूप में परिपक्व नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह अपनी लैंगिक प्रकृति को बिना अपराध की भावना के स्वीकार नहीं करता, उस प्रकृति को एक सयुक्तिपूर्ण जीवन-योजना में नहीं उतारता, तथा अपने लैंगिक अनुभव को विरोधी लिंग के साथ स्थायी, पारस्परिक सहयोग तथा सक्रिय सम्बन्ध का आधार बनाने योग्य नहीं होता।

हमारे लैंगिक वर्तन के विषय में यह तीसरा तथ्य प्रकट होना आरम्भ हुआ ही है कि हमारे लैंगिक वर्तन अन्य वर्तनों के स्तर से न तो अधिक ऊँचे उठते हैं और न अधिक नीचे गिरते हैं। लैंगिक वर्तन द्वारा हम चरित्र को प्रकट करते हैं जोकि चरित्र से भिन्न वस्तु नहीं है। उदाहरण के तौर पर, हम ऐसा नहीं पाते कि एक व्यक्ति को, जिसके लैंगिक वर्तन में दूसरों के शोषण तथा उनको अधीन करने की इच्छा होती है, जीवन के अन्य क्षेत्रों में समानता का परिपक्व गुण प्राप्त हो सकता है। न ही हम यह पाते हैं कि जो व्यक्ति लैंगिक जीवन को अपवित्र समझता है, उसमें चीजों की सही कीमत आँकने की सुचारुपूर्ण बुद्धि हो सकती है।

हम अब भी अपने मानव-स्वभाव के उस पूर्ण ज्ञान से बहुत दूर हैं, जिसमें से लैंगिक परिपक्वता विश्वास के साथ विकसित हो सके। किन्तु फिर भी हम कम-से-कम एक ऐसी स्थिति में हैं जहाँ से हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि लैंगिक सम्पर्क जहाँ कहीं भी अपरिपक्व है वहाँ चरित्र की उच्च परिपक्वता नहीं हो सकती।

मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी पैदा हुआ है। परिपक्वता की एक सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था अपने-आप तक सीमित रहने से बढ़कर दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है; आत्म-केन्द्र से सामाजिक केन्द्र की ओर बढ़ना है। व्यक्ति तब तक परिपक्व नहीं जब तक उसमें अपने-आपको समाज का अंग समझने या जैसा अपने लिए खुद चाहता है वैसा ही दूसरों से बर्ताव करने की उसमें क्षमता या योग्यता न हो।

समाज के अस्तित्व में ही कुछ ऐसी शक्तियाँ निहित हैं जो नवजात प्राणी की अपक्व आत्म-केन्द्रितता को कम कर देती हैं, क्योंकि ऐसा हुए बिना पारस्परिक सहयोग, सार्वजनिक उद्देश्यों का होना तथा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर निर्भर रहना सम्भव नहीं। माँ-बाप, अन्य वयस्क व्यक्ति, बड़े बच्चे तथा समान आयु के अन्य बच्चे शीघ्र ही इस प्रकार का प्रभाव डालते हैं जिससे बच्चे को अपने से अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रोत्साहन मिलता है।

संक्षेप में, जहाँ तक स्वयं परिपूर्ण आत्मा का सम्बन्ध है, बढ़ने का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों के एक संकीर्ण विन्यास में बढ़ना अर्थात् साथी मनुष्यों के साथ प्रेम, सहानुभूति, कार्य में सहयोग, विचारों व स्मृतियों में योग व सद्भावना में *बढ़ना* है।

मनुष्य की परिपक्वता की इस अवस्था से मुख्यतया सम्बन्धित मानवीय शक्ति *कल्पना* है। कल्पना की परिभाषा "विभिन्न अवस्थाओं में अनुभूत तत्त्वों से उत्पन्न नये विचारों के मानसिक संकलन" के रूप में की गई है। जैसा कि अक्सर लोग सोचते हैं, शून्य में से कुछ निर्माण करने की विधि कल्पना नहीं है बल्कि वह *परिचित भागों* में से नई *पूर्णताएँ* पैदा करने की एक विधि है।

पैदा होते ही शिशु के साथ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं जो उसमें अच्छे या बुरे का विचार उत्पन्न करती हैं। यह प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक अनुभव होते हैं। पहले वह इन अनुभवों को केवल अपना ही समझता है। उसमें यह अनुभव करने की कल्पना-शक्ति नहीं होती कि जैसे सुई चुभने पर वह दर्द से चीखता है उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति को भी वैसा ही दर्द हो सकता है। किन्तु जैसे-जैसे वह परिपक्व होता है उसमें "विभिन्न रूप में अनुभूत तत्त्वों से प्राप्त नवीन विचारों" के मानसिक संकलन की शक्ति अत्यधिक बढ़ती जाती है। वह *निजी* अनुभवों को *मानवीय* अनुभवों में बदल सकता है। संक्षेप में, उसमें सामाजिक कल्पना विकसित होती है। यदि वह इसी प्रकार निरन्तर विकसित होता रहता है तो उसके समीप के लोगों के लिए उसकी वयस्क शक्ति अभिशाप न होकर वरदान सिद्ध होगी, क्योंकि उसकी प्रत्येक नई शक्ति के साथ उसमें मानव के सही अर्थ समझने के लिए एक क्षमता भी आ जाती है।

मानस-शास्त्री इस सम्बन्ध में उपयोगी सिद्ध होने वाले एक शब्द का प्रचार कर रहे हैं, वह शब्द है *परानुभूति*। यह है अपने से परे एक वस्तु या व्यक्ति के प्रति अपनी चेतना का काल्पनिक प्रक्षेपण करना। हम एक व्यक्ति के साथ तब सहानुभूति प्रकट करते हैं जब हम उसके साथ कष्ट

उठाते हैं; *साथ* सोचते हैं। किन्तु परानुभूति का सम्बन्ध अधिक निकट का है; तब हम कल्पना द्वारा उसके जीवन में प्रवेश कर ऐसा अनुभव करते हैं जैसे वह अपना ही जीवन हो। यद्यपि हमारी शारीरिक पृथकता बनी रहती है, हम मानसिक अभिज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं। हम एक बाहरी व्यक्ति के बजाय अन्दरूनी व्यक्ति बन जाते हैं।

बहुत से व्यक्तियों को उनके ज्ञान से अधिक परानुभूत अनुभव होते हैं। यदि वे उनको जान भी जाते हैं तो उन पर विशेष ध्यान नहीं देते और यह पूछने का कष्ट नहीं करते कि किस शक्ति के द्वारा वे थोड़े समय के लिए, किन्तु सुस्पष्ट रूप में, दूसरे व्यक्ति में प्रविष्ट हुए हैं और इस प्रकार पृथक्त्व की भावना से ऊपर उठ सके हैं। उदाहरण के तौर पर अधिकांश व्यक्ति अपनी नजरों के सामने पीड़ा पाते हुए व्यक्ति को देखकर तीव्र आकुलता अनुभव करते हैं जब तक कि कोई भावात्मक रुकावट ऐसा करने से नहीं रोकती। वे एक अपमानित व्यक्ति से केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करते अपितु उसके अपमान को 'ग्रहण' कर उसे अपने अन्दर अनुभव करते हैं। हमारा प्रतिदिन का अनुभव प्रमाणित करता है कि परानुभूति हमारी साम्भविक मानव-शक्तियों में से एक है जो मनुष्य को आत्मिक पृथकत्व से बचाने में बहुत सहायक हो सकती है। इसके अतिरिक्त साथ ही हमारा प्रतिदिन का अनुभव तथा हमारे संसार की निराशाजनक दशा इस तथ्य को भी प्रमाणित करती है कि परानुभूति की साम्भाविक शक्ति मुख्यतया साम्भविक ही बनी रहती है। ऐसे बिरले ही होंगे जिनको परानुभूति ने एक अपरिपक्व आत्म-केन्द्रितता से एक परिपक्व सामाजिक केन्द्रितता तक पहुँचा दिया है। हमारे मानव-अस्तित्व की सम्भवतः सबसे बड़ी दुःखद घटना कल्पना का प्रतिरुद्ध विकास है।

निस्सन्देह हमारी इस शक्ति के आरम्भ में ही अवरुद्ध हो जाने के कई कारण हैं, किन्तु इनमें से तीन कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

प्रथम स्पष्ट ही है—अधिकांश बच्चों पर सबसे पहले माँ-बाप का प्रभाव पड़ता है जो स्वयं भावात्मक तथा सामाजिक रूप में अपरिपक्व होते हैं।

इस प्रकार के माँ-बाप बच्चे को आत्म में ही सीमित रहने की अवस्था को पारकर आगे बढ़ने में सहायता देने की अपेक्षा उसी में ही पुष्ट कर देते हैं।

दूसरा कारण कम स्पष्ट है। अधिकांश घरों, स्कूलों, समाज-समुदायों और यहाँ तक कि चर्चों में भी बच्चों को आत्म-केन्द्रितता से आगे केवल एक सीमित या स्थानीय विकास के लिए उत्साहित किया जाता है। उनसे आशा की जाती है कि वे विशेष व्यक्तियों व विशेष व्यक्तियों के समुदाय—परिवार, मित्र, समान वर्ग, जाति, धर्म या राष्ट्र के सदस्यों के साथ उचित रूप से बर्ताव करेंगे। किन्तु अपनी परानुभूत कल्पना के दायरे में 'बाहर के व्यक्तियों' को सम्मिलित करने के लिए उन्हें हतोत्साह किया जाता है। इससे पूर्व हमने कहा है कि एक व्यक्ति किसी हद तक दूसरे व्यक्ति की तीव्र आकुलता अनुभव करता है यदि कोई भावात्मक रुकावट उसे ऐसा करने से नहीं रोकती। सम्भवतः यहाँ हम सबसे अधिक प्रचलित भावात्मक रुकावट को खोज पाते हैं; और वह है *परानुभूत प्रांतीयता की आदत*। बहुत से व्यक्ति जो एक मित्र या अपरिचित व्यक्ति के, जो उनकी जाति या वर्ग का है, अपमान को अपना समझ सकते हैं, लेकिन दूसरी जाति या वर्ग के व्यक्ति के अपमान के प्रति उपेक्षा का भाव बनाये रखेंगे। वे यह समझ सकने के सर्वथा अयोग्य हैं कि इस 'बाहर के व्यक्ति' की भी वैसी ही मनोभावनाएँ हैं जैसी कि उनकी अपनी या उनके समुदाय के लोगों की होती हैं। इसी प्रान्तीय प्रतिमान ने अनेक व्यक्तियों को अपने परिवार के दायरे में सहृदय बने रहने तथा बाहर के लोगों के प्रति उदासीन बनने; अपने वर्ग के सदस्यों के प्रति ईमानदारी से पेश आने तथा बाहर के लोगों से छल-कपट तथा बेईमानी कही जाने वाली निर्दयता बरतने की अविरत क्षमता दी है।

तीसरा कारण यह है कि हमारी संस्कृति के अधिकांश मनुष्यों को परस्पर-विरोधी आदर्शों के सहारे जीवन बिताने के लिए कहा जाता है। उनसे दूसरे व्यक्तियों के प्रति भ्रातृभाव रखने और उनके विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी के रूप में काम करने के लिए कहा जाता है, उन्हें स्वार्थ-त्याग करने और साथ ही सबसे

पहले अपने मतलब की ओर ध्यान देने के लिए कहा जाता है। कहने का तात्पर्य है कि उन्हें परानुभूति की शक्ति को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित और साथ ही हतोत्साह किया जाता है, जिसका अनिवार्य परिणाम यह यह है कि हमारे मानवीय सम्बन्ध स्पष्ट होने की अपेक्षा भ्रान्त अधिक हैं तथा व्यक्तियों की बहुत सी आन्तरिक भ्रान्तियाँ दूसरों पर शत्रुता के रूप में प्रक्षेपित होती हैं।

हमारे मानवीय अस्तित्व की यह एक भारी दुःखपूर्ण घटना है कि मनुष्यों की एक बड़ी संख्या प्रतिरुद्ध सामाजिक प्रतिमान लेकर वयस्कता प्राप्त करती है। वे वयस्कता की शक्तियाँ धारण कर लेते हैं किन्तु यह समझने में असमर्थ हैं कि दूसरों के साथ क्या बीतती है या दूसरे किस तरह जिन्दगी बसर कर रहे हैं।

मनुष्य एक पृथक् विशेषताओं के संसार में पैदा हुआ है। उसे पूर्णताओं के संसार के रूप में परिपक्व होना है।

आरम्भ में उसे केवल *यह* पीड़ा, *यह* सन्तोष, *यह* भय, *यह* क्रोध होता है जोकि किसी अस्पष्ट पहचान की भावना के साथ एक सूत्र में गुँथे हुए हैं। विलियम जेम्स ने जब शिशु के प्रथम अनुभव को एक बड़ी अव्यक्त भ्रान्ति बताया था तो उसने उस क्षेत्र के विषय में अत्यधिक ज्ञान की कल्पना की होगी जहाँ वास्तव में कोई भी वयस्क प्रविष्ट नहीं हो सकता। किसी ऐसी मान लेना उचित जान पड़ता है कि नये पैदा हुए बच्चे को पूर्णता का कोई अनुभव नहीं होता—अर्थात् उसे उन अनेक परस्पर-सम्बन्धित भागों के विषय में अनुभव नहीं होता, जो पूर्णता उत्पन्न करते हैं तथा जिसमें से प्रत्येक भाग कुछ अर्थ प्रकट करता है। परिपक्वता प्राप्त करने के लिए *पूर्ण रूप* से देखने व *पूर्ण रूप* से विचारने की दिशा में वृद्धि होनी चाहिए। फिर भी एक शिशु आरम्भ में चाहे कितना भी 'अव्यक्त भ्रान्त' अनुभव क्यों न करे, शीघ्र ही एक समय ऐसा आता है जब उसका पालना, उसका कमरा, उसके खिलौने, आने-जाने वाले लोग तथा भूख के समय उसे खिलाने तथा गोद में उठाने वाले व्यक्ति एक विशेष रूप में सुस्पष्ट हो जाते हैं।

वस्तुओं में एक पारस्परिक सम्बन्ध नजर आने लगता है। बच्चा समझने लगता है कि किसका क्या अर्थ है। वह विजातीय उपक्रमों में से सुस्पष्ट आशाओं का निर्माण आरम्भ कर देता है।

जैसे-जैसे वह बढ़ता है, वे क्षेत्र, जहाँ वस्तुएँ सम्बन्धित नजर आती हैं, विस्तृत तथा पेचीदा होते जाते हैं—केवल उसका पालना ही नहीं अपितु सारा घर उसका क्षेत्र हो जाता है; उसके बाद गली, स्कूल, बसें, स्टोर, सारा नगर, अन्य शहर, उसके कार्य करने का स्थान, उसके सम्पर्क, जिस लड़की से वह विवाह करता है तथा जिस घर का वह निर्माण करता है, जिस समाचारपत्र को पढ़ता है तथा मनोरंजन के विभिन्न साधन, राष्ट्र तथा मानव-जाति सब उसके क्षेत्र में आ जाते हैं। आरम्भ में जो केवल एक सुई की नोक के बराबर संसार था अब व्यापक हो जाता है; आरम्भ में जो शारीरिक संसार था अब सामान्यीकरण की अमूर्तता और एक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है; आरम्भ में जो केवल तात्कालिक संसार था अब वह भूत तथा भविष्य का संसार हो जाता है।

जीवन *अर्थ की परिपूर्णताओं* में प्रवेश करने तथा उनका निर्माण करने का एक क्रम है। शाब्दिक अर्थ में बच्चे का मस्तिष्क आंशिक रूप में देखता है तथा आंशिक रूप में ही भावी परिणामों पर पहुँचता है, किन्तु जो पूर्ण है और जब उसका आविर्भाव होता है तो जो आंशिक है वह 'समाप्त' नहीं हो जाता, क्योंकि वह अपनी पूरी महत्ता के साथ उन्नत होता है। इस प्रकार जब हम अंश से पूर्ण बनाने की जीवन-शक्ति विकसित कर लेते हैं, तो जीवन के साथ हमारा सम्बन्ध *दार्शनिक* हो जाता है। एक व्यक्ति चाहे वह व्यापारी, किसान, मिस्त्री, शिक्षक, कूटनीतिज्ञ, माँ-बाप, मतदाता, मालिक या और कुछ भी हो, वह दार्शनिक है और उस हद तक परिपक्व है जहाँ तक वह पूर्ण को देख पाता है, जिसका अर्थ है कि वह किसी स्थिति से सम्बन्धित *समस्त* अंगों पर ध्यान देता है और उस 'समस्त' के साथ अपने वर्तमान व्यवहारों, भावी योजनाओं तथा आशाओं को बाँधता है।

अनेक स्थितियाँ उन पूरे वयस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा बिगाड़ दी जाती हैं जो

अभी भी आंशिक रूप में देखते तथा आंशिक रूप में ही भावी परिणामों को निर्धारित करते हैं। वे अपने ही लघु, सीमित संसार, अपनी ही कामनाओं, चित्त-वृत्तियों, पूर्व संलग्नताओं, क्षोभों, अज्ञानताओं, पक्षपातों, सुविधाओं, इच्छाओं तथा परिस्थितियों की दृष्टि के साथ देखते हैं। और इस प्रकार वे जो-कुछ देखते हैं उसके आधार पर 'भविष्यवाणी' करते हैं, अर्थात् वे कारण तथा परिणाम के सम्पर्कों के साथ कार्य करते हैं जोकि उनकी दृष्टि के समान ही गलत तथा सीमित हैं।

प्लेटो ने मानव-समाज का भविष्य तब तक आशा-रहित समझा था जब तक कि दार्शनिक बादशाह न बनने लगें। जी० बी० चिशोल्म ने जब यह कहा कि आज तक कभी भी संसार के इतिहास में उपयुक्त स्थानों पर पर्याप्त परिपक्व व्यक्ति नहीं रहे, जब वह भी प्लेटो के ढर्रे में बोल रहा था। वह प्लेटो के ढर्रे में अवश्य बोल रहा था, किन्तु वह प्लेटो से और आगे बढ़ रहा था। मानसिक रोगों के चिकित्सक होने के नाते तथा यह जानते हुए कि किस प्रकार विभिन्न असंख्य प्रभावों द्वारा मनुष्यों के चरित्रों का निर्माण होता है, वह दार्शनिकों को केवल बादशाह बनाकर ही सन्तुष्ट नहीं होगा। उसके अनुसार उन दार्शनिकों के लिए, जो पूर्ण को देखने की परिपक्व शक्ति रखते हैं, वे तमाम स्थान 'उपयुक्त स्थान' हैं जहाँ एक व्यक्ति का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। और चूँकि अधिक-से-अधिक व्यक्ति सीखना आरम्भ कर रहे हैं अतः इस पारस्परिक पेचीदा सम्बन्धों के संसार में कोई व्यक्ति सुरक्षित नहीं यदि उसने संसार के साथ दृढ़ दार्शनिक सम्पर्क स्थापित किये बिना ही वयस्कता प्राप्त कर ली है।

दो पुराने और एक नया सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिक युग से पूर्व मानव-वर्तन के विषय में दो सिद्धान्त प्रचलित थे। यहाँ तक कि अब हमारे वर्तमान मनोवैज्ञानिक युग में भी इन दोनों सिद्धान्तों का प्रभाव निर्विवाद रूप से व्याप्त है। ये सिद्धान्त उन वस्तुओं का निश्चय करते हैं जो हम इच्छित व्यवहार को उत्साहित तथा अनिच्छित व्यवहार को हतोत्साह करने के लिए करते हैं।

इनमें पहला सिद्धान्त अच्छाई-बुराई का है। इस सिद्धान्त के अनुसार लोग इसलिए अच्छाई करते हैं कि उनमें अच्छाई है और इसलिए बुराई करते हैं चूँकि उनमें बुराई है। जीवन का उद्देश्य लोगों पर बुरा न होने के लिए दबाव डालना है या उन्हें अच्छा होने के लिए बाध्य करना है। अधिकार-प्राप्त साधारण मनुष्य माँ-बाप, शिक्षक, स्वामी, पुलिस का सिपाही, जेल का वार्डन या किसी सार्वजनिक अफसर के लिए इस सिद्धान्त में प्रबल सम्मोहन था। यदि एक व्यक्ति स्वयं असाधारणतः परिपक्व नहीं है तो किसी भी विरोधी व्यवहार के प्रति, जो उसके लिए अतिरिक्त कार्य उत्पन्न करता है या उसे मूर्ख बनाता है या वस्तुओं के व्यवस्थित क्रम को बिगाड़ देता है, उसकी प्रथम तात्कालिक प्रतिक्रिया होती है—अपने ऊपर पड़े प्रभाव का विचार करना तथा अपराधी को 'बुरा' कहना।

मानस-शास्त्री तथा मानसोपचार-शास्त्री इस प्रकार दोषी को 'बुरे' व्यक्ति के रूप में नहीं देखते बल्कि वे उसे जीवन-चक्र से कुछ पथ-भ्रष्ट व्यक्ति के रूप में देखने का यत्न करते हैं, जो हताश बच्चे की भाँति क्रुद्ध होकर जीवन पर आघात करता है। उनका अनुभव है कि कोई भी जान-बूझकर बुरा काम नहीं करता। कोई भी उठकर यह ऐलान नहीं करता कि "मैं बुरा हूँ और मेरा इरादा बुरा बना रहना ही है।" और यदि वह ऐसा करता भी है तो उसके शब्द उसकी अन्दरूनी नैतिक बुराई की अपेक्षा उसकी निराशा को अधिक व्यक्त करते हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के प्रयत्न में एक निराशा की स्थिति पर पहुँच जाता है और तब वह पूर्ण रूप से उपेक्षित होने की बजाय बुरे कामों के लिए बदनाम होना तथा उसके लिए दण्ड पाना भी बेहतर समझता है।

दूसरा परम्परागत सिद्धान्त ज्ञान-अज्ञान का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में प्रिय रहा है। साधारण तौर पर इस सिद्धान्त को अच्छाई-बुराई के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिकारी-वर्ग से कम और उदारवादियों से अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है, क्योंकि इस सिद्धान्त में विश्वास करने का अर्थ है यह मानना कि मनुष्य-मात्र में ऐसी शक्तियाँ हैं जिन्हें यदि

उचित रूप में विकसित किया जाय तो वे मनुष्य को सही वस्तु दिखायेंगी और इसलिए स्वभावतः उसे अच्छा कार्य करने के लिए प्रेरित करेंगी। अज्ञानता को दूर करना, मनुष्यों को सांसारिक तथ्यों से भिज्ञ कराना, उन्हें वस्तुओं तथा लोगों, घटनाओं और सम्बन्धों के विषय में सचाई का ज्ञान कराना अत्यन्त उच्च कार्य जान पड़ता है। हम कह सकते हैं कि अधिकांश स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयों के प्रवेश-द्वारों के ऊपर यह अदृश्य उपाख्यान लिखा रहता है कि "सबसे पहले ज्ञान पर विजय प्राप्त करो और शेष सब-कुछ तुम्हें स्वयं प्राप्त हो जायगा।"

मानस-शास्त्री तथा मानसोपचार-शास्त्री मानवीय दुराचरण के ज्ञान-अज्ञान के लेखे को अच्छाई-बुराई के लेखे की ही भाँति लेते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे तथ्यों के ज्ञान को महत्त्वहीन समझते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि हमने पहले ही बताया है कि परिपक्व होने के क्रम में जीवन के साथ ज्ञान का सम्पर्क एक आधारभूत सम्पर्क है। किन्तु हमारे मानव-ढाँचे के ये आधुनिक अन्वेषक परम्परागत शिक्षक तथा युक्तिपूर्ण दार्शनिक से दो बातों में मतभेद रखते हैं—वे ज्ञान को दूसरे प्रकार का महत्त्व प्रदान करते हैं, और वे ज्ञान के कार्य-क्षेत्र की भिन्न सीमाएँ देखते हैं। उन्हें निश्चय है कि ज्ञान *अकेला ही स्वयं* जीवन को भ्रान्ति तथा निर्बुद्धि से बचाने के लिए पर्याप्त नहीं। यह केवल अन्य शक्तियों के समूह के साथ रहकर ही पर्याप्त शक्ति रखता है।

इसके अतिरिक्त जीवन पर प्रभाव डालने के निमित्त तथ्यों की शक्ति सीमित है, जैसा कि मानसोपचार-शास्त्री एक व्यक्ति द्वारा तथ्यों को सीख लेने के बाद भी उन्हें ग्रहण करने की योग्यता में इसे देखते हैं। वे उसके चारित्रिक ढाँचे में उपस्थित न होते हुए भी सैद्धान्तिक रूप में उसके मस्तिष्क में मौजूद हो सकते हैं ठीक जैसे कि बच्चा खाना नहीं पचा सकता; इसलिए नहीं कि खाना स्वादिष्ट नहीं या उसे कोई शारीरिक रोग है, बल्कि इसलिए कि खाना पचाने में उसकी भावात्मक अव्यवस्थाएँ बाधा उपस्थित करती हैं, और इसी प्रकार किसी भी उम्र का व्यक्ति तथ्यों को पचाने में असमर्थ हो सकता है।

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि न तो अच्छाई-बुराई का सिद्धान्त और न ज्ञान-अज्ञान का सिद्धान्त ही पर्याप्त है। उनके स्थान पर हमें परिपक्वता-अपरिपक्वता का सिद्धान्त रखना होगा। हमें अधिकाधिक यह देखना चाहिए कि मानव-दुराचरण का कारण *समस्याओं को सुलझाने के अपरिपक्व तरीकों में है जिन्हें परिपक्व तरीकों द्वारा सुलझाया जाना चाहिए।*

परिपक्वता-अपरिपक्वता का सिद्धान्त, यद्यपि इस नाम से हमेशा न जाने जाते हुए भी, हमारी विचारधारा का एक इतना प्रमुख अंग बन चुका है कि यह हमारे समय की शिक्षण-संस्थाओं के समाचारों में आ चुका है। प्रतिदिन समाचारपत्र 'व्यवस्था-कार्यक्रम', 'निर्देशन-चिकित्सालय', 'सलाह देने वाली समिति', 'माँ-बाप की शिक्षा का कार्यक्रम', 'मानसिक स्वास्थ्य-कार्यक्रम' आदि की खबरें छापते हैं। इन तमाम कार्यक्रमों में पीड़ित व्यक्ति को कठिनाई में इसलिए समझा जाता है क्योंकि किसी-न-किसी तरह उसका जीवन अव्यवस्थित है, और इन तमाम का कार्य-सिद्धान्त यही है कि इस प्रकार के व्यक्ति को न उपदेश और न केवल तथ्यों की आवश्यकता है बल्कि उसके संसार के प्रति एक नये चारित्रिक परिवर्तन की जरूरत है।

ये तीनों ही सिद्धान्त अपने विशेष रूप में क्रियान्वित होते हैं। जहाँ अच्छाई-बुराई के सिद्धान्त प्रचलित हैं वहाँ प्रचार, उपदेश, पुरस्कार तथा दण्ड देने के तरीकों का प्रयोग किया जाता है और पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड पर अधिक जोर दिया जाता है। जहाँ ज्ञान-अज्ञान का सिद्धान्त प्रचलित है वहाँ शिक्षा, परीक्षण तथा तथ्यों को मस्तिष्क में बिठाने के विभिन्न स्तर कायम किये जाते हैं। जहाँ परिपक्वता-अपरिपक्वता का सिद्धान्त प्रचलित है वहाँ नये तरीके उत्पन्न होते हैं। इनका उद्देश्य व्यक्तियों को अपना जीवन पूर्ण देखने में सहायता देना, उन जीवनों की समस्याओं को पहचानना और उनके विषय में कुछ सक्रिय कार्य करना, अर्थात् भय तथा विरोधी भावना से डरकर भागने की अपेक्षा जीवन की ओर सक्रिय विश्वास के साथ प्रगति करना है।

अपरिपक्व मस्तिष्कों पर परिपक्व अन्तर्दृष्टियों का व्यर्थ जाना

जैसे ही हम परिपक्वता की विति से परिचय प्राप्त करते हैं हम अपने-आपको एक पुराने भ्रम में उलझा पाते हैं। मानस-शास्त्रियों तथा मानसोपचार-शास्त्रियों ने जिसे स्वस्थ जीवन बताया है वह बहुत-कुछ उस स्वस्थ जीवन से मिलता है जिसका वर्णन हमारे महानतम मानव-द्रष्टाओं एवं राजनेताओं ने किया है। केवल शब्दों का प्रयोग नया है, चिकित्सा की सामग्री नई है और कई बातों में मानव-दुराचरणों की व्याख्याएँ भी नई हैं। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक जीवन के साथ जिस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने की सीख देते हैं वह पूर्वपरिचित हैं। पहले भी इन सम्बन्धों की सीख दी जा चुकी है। शताब्दियों के मानव-अनुभव में समय-समय पर कई व्यक्तियों ने, जोकि अपने आसपास के लोगों की अपेक्षा मानसिक, भावात्मक तथा सामाजिक विषयों में कारण और परिणाम का प्रभाव ज्यादा अच्छी तरह देख पाते थे, इन्हीं सम्बन्धों की सीख दी है। तो फिर क्यों हम इन चिरकाल से घोषित जीवनदायिनी अन्तर्दृष्टियों के होते हुए भी अपने तथा दूसरों के लिए कष्ट पैदा करते चले आ रहे हैं? समस्त आवश्यक सत्य पहले से ही घोषित किये जा चुके हैं। वास्तव में उनमें से बहुत से हमारे दैनिक वार्तालाप के अंग हैं; हमारी अर्चना के क्षणों में श्रद्धा से और बड़े-बड़े अवसरों पर ज्ञान के स्वतःसिद्ध तत्त्वों के रूप में कहे जाते हैं। तो फिर यह हमारे नित्य के आचरण को बनाने में इतने शक्तिहीन क्यों हैं? यह हमें क्यों नहीं बचा पाए हैं?

हमारे नवीन मनोवैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में हमारे प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है—अपरिपक्व मस्तिष्कों के लिए कहा गया परिपक्व सत्य वही परिपक्व नहीं रहता। अपरिपक्व मस्तिष्क उसमें से केवल वही ग्रहण कर पाते हैं जो वे ग्रहण कर सकने में समर्थ होते हैं।

हमने लोगों को कहते सुना है कि प्रत्येक महान् अन्तर्दृष्टि संस्थापन के बाद अपनी बहुत-कुछ महानता खो देती है। इसका एक कारण—सम्भवतः

मुख्य कारण—यह है कि मूल अन्तर्दृष्टि मानव-जाति तक उन मनुष्यों द्वारा पहुँचाई जाती है जो आरम्भ में उस अन्तर्दृष्टि को प्रकाशित करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा कम परिपक्व होते हैं। अनुयायी स्वामियों की अपेक्षा कम परिपक्व होते हैं। उदाहरणतः मानव-भ्रातृभावना का विचार, जिसे नजरेथ के ईसा ने अत्यन्त उच्च भावना के साथ प्रकट किया था, उन अनेक अनुयायियों के समूह द्वारा प्रसारित किया गया जो उनसे इतने कम परिपक्व थे कि वे उनके शब्दों को दोहराते रहने पर भी उनके असली अर्थ को नहीं समझ पाते थे। अतः इस प्रकार एक अन्तर्दृष्टि,जो सम्भवतः संसार को बचा सकती थी, केवल शब्दों का जाल बनकर रह गई।

यह कोई नई खोज नहीं है कि बच्चे माता-पिता द्वारा कही गई बातों का केवल कुछ अंश ही ग्रहण कर पाते हैं। न तो पहली बार और न दसवीं बार ही कहने पर वे किसी विशेष आचरण के नियम, औचित्य तथा सचाई व उदारता के अर्थ और भाग्य द्वारा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धित होने के विषय में पूरी तरह समझ सकते हैं। उनके कान शब्दों को भले ही सुन लें, और उनकी जीभें भले ही उन शब्दों को दोहराना सीख जायँ किन्तु वे परिपक्व होने पर ही अपनी समस्त पूर्णता के साथ शब्दों के वास्तविक अर्थ को जान सकते हैं।

किन्तु जैसे हम मनोवैज्ञानिक विकास की समस्याओं के विषय में कुछ जान गए हैं हम यह महसूस कर सके हैं कि जहाँ एक वयस्क के शरीर में बच्चे-जैसी दृष्टि और भावनाओं ने घर कर रखा है वहाँ सत्य ग्रहण करने में इसी प्रकार की सीमाएँ होती हैं। प्रतिरुद्ध विकास में हमारी अन्तर्दृष्टि हमें इस प्रकार मानव-इतिहास की महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टियों के नये अध्ययन के लिए आमन्त्रित करती है, क्योंकि अब हमारे पास महान की महानता के प्रति न्याय करने का तरीका है और साथ ही इस प्रकार की महानता को हमें लघुता से मुक्त न कर सकने की विफलता का कारण समझने का भी तरीका है।

संसार को बचाने के लिए अनेक अन्तर्दृष्टियों का जन्म हुआ है किन्तु कोई भी संसार को बचा नहीं सकी है।

इनमें सबसे पहली अन्तर्दृष्टि थी—एक परमेश्वर के अस्तित्व का विचार। सोलोमोन गोल्डमेन ने बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेण्ट) के अपने स्मरणीय अध्ययन में इस विचार के मनोवैज्ञानिक पहलू को भली प्रकार स्पष्ट किया था :

"बाइबिल का आरम्भ एक साहसी नास्तिक की कहानियों में हुआ है, जिसके बारे में कहा गया था कि वह संसार द्वारा अपने समय के मान्य विश्वासों को अस्वीकार कर पृथ्वी के रूप को बदलने में जुट गया। उसने अपनी नास्तिकता या अपने नये विश्वास कैसे पाये—यह पूछना उत्तर देने की अपेक्षा अधिक आसान है।···इतना हमें विश्वास है कि प्राचीन संसार में एक समय एक यहूदी या ऐसा व्यक्ति, जिसे यहूदी अपना मानते थे, रहा करता था, जिसने मूर्ति-पूजक मतों तथा असभ्य तरीकों से उद्विग्न होकर समस्त पूर्णताओं में पूर्ण एक परमेश्वर की झलक के लिए मार्ग टटोला था।"

यह एक प्रथम सारभूत मानव-अन्तर्दृष्टि थी। जब तक अनेक ईश्वरों में विश्वास प्रचलित रहा—जो सत्य के अनेक विरोधी स्रोतों में विश्वास रखने के बराबर था—मनुष्य कभी भी अपने मस्तिष्क को भ्रान्ति से मुक्त न कर सका। वह सुसंगत विचार के लिए कोई आधार न खोज सका, नैतिक मूल्यांकन के लिए कोई कसौटी न पा सका और न निर्णय के एकरूपत्व के लिए कोई आधार ढूँढ सका। अनेकानेक ईश्वरों का सामना करते हुए—जहाँ प्रत्येक ईश्वर सर्वोच्चता का दावा करता है तथा प्रत्येक एक-दूसरे का विरोध करता है—मनुष्य मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक अराजकता से युक्त संसार में जीवन-यापन करता रहेगा।

वह साहसी नास्तिक, चाहे जो भी वह था, मुक्ति दिलाने वाली एक अन्तर्दृष्टि लाया कि सत्य एक है चूँकि सत्य का स्रोत एक है।

अब देखिए कि इस महान अन्तर्दृष्टि का क्या हुआ—जैसा कि डॉ० गोल्डमेन ने पुनः कहा है :

"जनता ने तत्परता से इसे स्वीकार किया और कार्य करने तथा आज्ञा मानने के लिए वे राजी हो गए। किन्तु यह उनके पुराने तरीकों को नहीं

छुड़ा सकी। इसने ईश्वर को शाश्वत माना, किन्तु प्रत्येक पहाड़ी पर तथा प्रत्येक वृक्ष के नीचे उन्होंने उसकी पूजा के लिए लकड़ी तथा पत्थर की वेदियाँ बनाईं। इसने मनुष्य को ईश्वर का रूप बताया, किन्तु वे दासता का त्याग न कर सके······इसने न्याय की कामना की, किन्तु रिश्वतें लेने की रुचि के कारण न तो इसने अनाथ को देखा और न विधवा का समर्थन किया। इसने शान्ति की कामना की, किन्तु समय-समय पर मिस्र, सीरिया या बेबेलोनिया आदि की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के जाल में यह फँस गई। एक शब्द में, इसने आदर्श समाज का स्वप्न देखा और यहाँ तक कि उसका विधान भी बनाया किन्तु कभी उसका निर्माण आरम्भ नहीं किया।"

इस अन्तर्दृष्टि के संसार में सर्वप्रथम आने के लगभग हजारों वर्षों के बाद भी इसके मौलिक गौरव को नहीं समझा गया—स्वतोविरोधाभास-रहित यथार्थता का गौरव जो ग्रहण किया जा सकता है और ग्रहण करने की क्रिया का स्वागत करता है; संघर्षयुक्त विरोधों में विभाजित उन्मादी संसार का गौरव नहीं, अपितु वह गौरव जो जिज्ञासु मस्तिष्क के सम्मुख अपने-आपको पूर्ण प्रकट करने की प्रतीक्षा कर रहा है।

यहाँ हमारे लिए विशेष उल्लेख की बात केवल यह नहीं है कि मनुष्य एक ईश्वर की धारणा को पूरी तरह समझने तथा उसके अनुसार कार्य करने में असफल रहा है, अपितु यह है कि वह ऐसे तरीकों में असफल रहा है जो अपरिपक्वता के द्योतक हैं। इस महान अन्तर्दृष्टि से सम्बन्धित उसकी त्रुटियाँ उसे इतना अनिष्टकारी अथवा अज्ञानी नहीं बनातीं जितना कि वे उसके मानसिक, भावात्मक तथा सामाजिक रूप से परिपक्व हुए बिना ही स्वभावतः वयस्क हो जाने की ओर इंगित करती हैं।

एक दूसरी अन्तर्दृष्टि के लिए भी हम इन्हीं लोगों के ऋणी हैं कि *मनुष्य नैतिक विधान की उपज है।*

सिनाय पर्वत से विधान-पत्रों को लेकर उतरते हुए मूसा का चित्र मनुष्य के लिए उसकी अनुपम प्रकृति के प्रत्यक्षीकरण का एक प्रतीक है। पशुओं के लिए नैतिक कानून नहीं होते। असंख्य युगों तक मनुष्य स्वयं कोई नैतिक

कानून नहीं जानता था। उन पशु-समान युगों में उसका आत्मसंयम रीति-रिवाजों के कारण था, सामाजिक कारणों और परिणामों के ज्ञान के कारण नहीं। अपने साथियों के साथ उसके सम्बन्ध सहज-प्रवृत्त थे, नैतिक नहीं।

चूँकि पौराणिक मूसा के युग में मनुष्य अधिकांशतः अपरिपक्व ही थे, नैतिकता की आरम्भ में आदेश के रूप में व्याख्या की गई जैसे कि *तुम्हें यह नहीं करना है।* किन्तु इस पौराणिक पुरुष की नैतिक अन्तर्दृष्टि इतनी विशुद्ध थी कि उसके द्वारा ईश्वर की भाँति दिये गए आदेश एक अत्याचारी के मनमाने आदेशों की भाँति नहीं थे बल्कि वे स्वयं नैतिक बुद्धि की आवाज थे। मनुष्यों को एक-साथ शान्ति तथा समता के साथ रखने के लिए वे आदेश उचित एवं आवश्यक थे। झूठ, चोरी, तृष्णा, बलात्कार, जाति के बुजुर्गों का अपमान, मूर्ति-पूजन, विश्राम-दिवस का लाभ न उठाने देना आदि बातों का आत्म-हानि के भय बिना व्यापक प्रचलन एक ऐसे सामाजिक ढाँचे को असम्भव बना देगा कि जिसमें मनुष्य विश्वास के साथ जीवित न रह सकेंगे। संक्षेप में, जितने भी 'निषेध' बताये गए थे वे इस बात का रहस्योद्घाटन करते थे कि अगर मनुष्य अपने-आपको सच्चे अर्थों में जानता है तो उसकी नैतिक बुद्धि इन बातों का करना स्वीकार न करेगी।

ईसामसीह के दस आदेश आज भी हमारी संस्कृति की नैतिक प्रकृति से सम्बन्धित प्रथम अन्तर्दृष्टि हैं। इससे पूर्व अन्य 'नियम' रहे हैं किन्तु उनमें दस आदेशों में वर्णित नैतिक अन्तर्दृष्टि की अनुरूपता का अभाव रहा है। वे सब-के-सब एक वर्ग के नियम थे जो मनुष्यों में स्वेच्छापूर्वक भेद-भाव करते थे और एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक अधिकार देते थे। अतः वे नैतिक नहीं थे, क्योंकि उनमें एक नैतिक विश्वजनीनता न थी। वे उन संस्कृतियों के नियम थे, जो अनेक ईश्वरों तथा विभिन्न सत्यों से ऊपर नहीं उठ पाई थीं। तब उच्चकुलीन के लिए एक सत्य और निम्न वर्ग में पैदा हुए व्यक्ति के लिए दूसरा सत्य हुआ करता था। ईसा के आदेशों में समस्त मनुष्यों की समानता, उनके अधिकारों तथा कर्तव्यों की समानता की प्रथम अभिव्यक्ति हुई थी।

किन्तु यह भी वही कहानी है जिसमें एक महान सत्य अपरिपक्वता के स्तर पर ले आया गया था।

अपरिपक्व मस्तिष्कों ने ईसा के विश्वव्यापी सिद्धान्तों को निषिद्ध वस्तु में परिणत कर दिया। साप्ताहिक धार्मिक कृत्यों (प्रार्थनाओं) के लिए यह बात अधिकतर लागू होती है। विश्राम की आवश्यकता प्रत्यक्ष है। विश्राम के समय का नियमपूर्वक निश्चित होना इस धारणा को स्पष्ट करता है कि हीन-से-हीन मजदूर भी इससे वंचित न रह सके। किन्तु अवकाश का समय साप्ताहिक प्रार्थनाओं में व्यतीत करने के बजाय अत्यधिक आवश्यक तथा जीवन-रक्षक कार्य को भी न करने के रूप में बदल गया है। विश्राम-दिवस मनाने के लिए भी लोग दो पक्षों में विभाजित हो चुके हैं—एक की धारणानुसार ईश्वर ने सप्ताह का एक विशेष दिन विश्राम के लिए निश्चित किया है और दूसरे की धारणानुसार दूसरा दिन।

अपरिपक्व मस्तिष्कों ने ईसा के आदेशों के साथ दूसरा काम यह किया है कि इसकी इतनी अधिक संकुचित तथा शाब्दिक व्याख्या की है कि इसमें मनुष्य को नैतिक परिपक्वता की ओर प्रेरित करने की पर्याप्त शक्ति नहीं रही है। 'तुम चोरी नहीं करोगे' का मुख्यतया यह अर्थ लगाया जाता है कि तुम प्रत्यक्ष रूप में दूसरे की वस्तु नहीं लोगे। किन्तु चुराने के कई अन्य तरीकों पर—उदाहरण के तौर पर सामान में मिलावट कर, बाजार में रुपया लगाकर, साम्राज्यवाद द्वारा की गई चोरी को दूसरा नाम देकर—ज्यादातर ग़ौर नहीं किया जाता।

हम यह नहीं जानते कि मूसा नामक वह व्यक्ति इन नैतिक नियमों की गहराई में किस हद तक पहुँचा था, किन्तु हम यह जानते हैं कि बाद के इतिहास में अपरिपक्व मस्तिष्कों ने उन नियमों के बाहरी अर्थ से अधिक कुछ ग्रहण नहीं किया। अभी भी संसार के लिए यह सीखना बाकी है कि मानव-प्रकृति के सारभूत तत्त्वों के विषय में यह दस आदेश क्या कहते हैं। जब तक कि हम अधिक परिपक्व नहीं होते यह नियम हमारे बीच केवल एक सन्दिग्ध अस्तित्व बनाये रखेंगे—एक ओर मुक्ति प्रदान करने वाले साधन

होंगे जिनके द्वारा मनुष्य परस्पर विश्वास के साथ एक साथ रह सकते हैं, और दूसरी ओर निषेधों का एक क्रम होगा जिसे अत्यन्त संकुचित तथा शाब्दिक अर्थों में आचरणों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति प्राप्त होगी, और जो मनुष्यों को एक अन्तर्दृष्टि के अन्तर्गत एक सूत्र में बाँधने की अपेक्षा उन्हें अन्धविश्वासी सिद्धान्तों की ओर ले जायगा।

कृषक एवं द्रष्टा एमस के शब्दों में हम संसार की एक अन्य महान अन्तर्दृष्टि पाते हैं—कि विशेषाधिकारों तथा बलवानों द्वारा निर्बलों के शोषण का अन्त अवश्य होना चाहिए; कि सामाजिक न्याय अवश्य आना चाहिए; कि इस प्रकार के न्याय की माँग मनुष्य की स्वेच्छापूर्ण माँग नहीं है, बल्कि मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के गठन में यह प्रकृतिगत है जिसे नष्ट करना विनाश को आमन्त्रित करना है।

अधिकांश प्राचीन संसार—मिस्र, सीरिया, बेबीलोनिया और पूर्वीय निरंकुश राज्यों में सामाजिक न्याय के विषय में कभी कुछ सुना नहीं गया था, किन्तु यदि कोई इस विषय में बोलता भी तो उसे तुरन्त ही दण्ड दे दिया गया होता। यह विचार इन निरंकुश तथा स्वेच्छापूर्ण साम्राज्यों से बहुत दूर था कि एक साधारण मनुष्य भी दयालु तथा न्यायपूर्ण व्यवहार का अधिकार रखता है। अपने समय से आगे और अपने साथियों से सामाजिक रूप में अधिक परिपक्व केवल थोड़े से ही लोगों ने असहाय तथा सम्पत्ति-विहीन लोगों की ओर से अपना क्षोभ प्रकट किया। इस प्रकार का एक ऐमोस, एक मिकाह, एक ईसाह का ही यह काम था कि एक नैतिक बर्बरता के संसार में वे सभ्यता की आवाज उठाएँ।

ईसाह ने बुलन्द आवाज में कहा, "अच्छा काम करना सीखो; न्याय माँगो; पीड़ितों को बचाओ; अनाथों के प्रति न्याय करो; विधवा की हिमायत करो।" और मिकाह ने मनुष्यों के समस्त कर्तव्यों का सार बताते हुए कहा, "ओ मनुष्य! उसने तुझे दिखा दिया है कि अच्छाई क्या है, ईश्वर तुझसे क्या चाहता है; न्याय कर; दया से प्रेम कर और अपने ईश्वर के साथ नम्रता के साथ चल!"

तो यह एक अन्य महान अन्तर्दृष्टि थी—एक मनुष्य विश्व में मानव होने के नाते अपने साथियों का खयाल रखने और उनके साथ भलाई का व्यवहार करने के लिए अनुग्रहीत है—चाहे वह साथी गरीब हो या अमीर; असहाय हो या शक्तिशाली।

इस अन्तर्दृष्टि ने ईसा के 'तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए' वाले आदेशों की अपेक्षा व्यक्ति से अधिक माँग की। इसे दूसरे लोगों के विषय में सजीव कल्पना की आवश्यकता पड़ी—एक ऐसी परानुभूत कल्पना जोकि बच्चे में सुप्तावस्था में मौजूद है और जो केवल बच्चे के परिपक्व होने पर ही पूर्ण हो सकती है। दूसरे की तकलीफ को महसूस करना और उस तकलीफ को दूर करने की इच्छा, दूसरे की आवश्यंकता को पहचानना और उस आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की इच्छा—यही सामाजिक न्याय की बुनियाद है। इसके बिना सख्त-से-सख्त कानून भी सामाजिक शक्ति के रूप में आत्म-लाभ से इच्छा पर विजय प्राप्त करने के लिए न्याय या दया नहीं पैदा कर सकता।

बाद में एक और कृषक एवं द्रष्टा, नजरेथ के ईसा ने इस विचार का पूर्ण अर्थ समझते हुए प्रेरणा के एक क्षण में सम्पूर्ण नैतिक जीवन का आधारभूत नियम रखा—"दूसरों के लिए वैसा ही करो जैसा तुम दूसरों से अपने लिए चाहते हो।" ईसा यहाँ बच्चे के आत्म-विलयन से बहुत परे की बात मनुष्य से चाह रहे थे। वह परिपक्व शक्ति वाले व्यक्तियों से अन्य व्यक्तियों को उतनी ही सचाई के साथ देखने के लिए कह रहे थे जितना एक व्यक्ति स्वयं को देखता है।

और अब फिर पराजय की वही कहानी सामने आती है। इन द्रष्टाओं को स्वयं अपने ही लोगों से पूरी सफलता नहीं मिली—सारे संसार के साथ सफल होने की बात तो दूर थी। उनके भविष्य-कथन के वर्ष उन अत्याचारियों की उत्कट भर्त्सना में ही बीते जो उनकी बात नहीं सुनते थे। एमोस ने चीख-चीखकर कहा, "न्याय को पानी की भाँति और धर्म-परायणता को एक विशाल नदी के रूप में बहने दो।" किन्तु न तो न्याय पानी की भाँति बहा

और न धर्मपरायणता ने ही एक विशाल नदी का रूप लिया। बड़े-बड़े अत्याचारी पहले की ही भाँति बने रहे।

आज भी सामाजिक न्याय अधिकांशतः अपूर्ण ही है। यद्यपि, आज हम इस दीर्घकालीन अपूर्णता के कारण के विषय में एक नई बात बता सकते हैं। साधारण-सी बात यह है कि सामाजिक न्याय के लिए मनुष्य को बच्चे वाली आत्मकेन्द्रितता से जितना वह अभी तक बाहर निकला है उससे ज्यादा बाहर निकलना होगा। अपरिपक्व जीवन ऐसा जीवन है जिसमें कल्पना ने अभी अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को समझना आरम्भ नहीं किया है। अतः यह मुख्यतया निजी स्वार्थ, न कि आत्म-पूर्णता की भावना से प्रेरित होता है। जबकि व्यक्तिगत रूप में हमें बच्चे की आत्मकेन्द्रितता से परिपक्व की सामाजिक केन्द्रितता की ओर बढ़ना था, जिसमें हममें से अधिकांश और हमारे सम्पूर्ण विगत इतिहास के अधिकांश पूर्वज इस प्रकार बढ़ने में अधिकांश असफल रहे हैं।

कई मानों में संसार की समस्त महान अन्तर्दृष्टियों में नजरेथ के ईसा की सबसे धृष्टतापूर्ण अन्तर्दृष्टि थी, जिसका यह प्रत्यक्षतः मूर्खतापूर्ण विश्वास था कि मनुष्य को परस्पर प्रेम करना चाहिए : "मैं तुम्हें एक नया आदेश देता हूँ कि तुम एक-दूसरे से प्रेम करो।" हमारे लिए उनके श्रोताओं की व्यग्रता, यहाँ तक कि अशिष्ट हँसी की कल्पना करना कठिन नहीं है। एक ऐसा संसार, जो विश्वजनीन न्याय के स्तर तक न पहुँच पाया था, उसके लिए विश्व-प्रेम के स्तर तक उठना बहुत कठिन था।

वास्तव में 'यह नया आदेश' मूर्खतापूर्ण तथा स्वेच्छापूर्ण नियम नहीं था, जो मनुष्य पर बाहर से थोपा गया हो, बल्कि यह मनुष्य के स्वभाव की सम्भवतः सबसे व्यापक अन्तर्दृष्टि थी जो अभी तक प्राप्त हुई है। आज मानसिक रोगों का प्रत्येक चिकित्सक इसकी सत्यता की पुष्टि कर देगा। मनुष्य उसी हद तक मनोवैज्ञानिक रूप में स्वस्थ है जिस हद तक वह अपने साथियों के साथ विधायक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। घृणा करना या भय करना मनोवैज्ञानिक रूप से अस्वस्थ होना है।

लेकिन यह एक ऐसा रोग है जो आज भी ज्यादातर हमारे पीछे पड़ा हुआ है। वास्तव में यह हमारे समय का क्षय रोग है। जी० बी० चिशोल्म ने लिखा है—"मनुष्य के लिए असली खतरा खुद मनुष्य है···मनुष्य के साथ यह कठिनाई है कि वह अपने विकृतमज्ज भयों, अपने पूर्वग्रहों, अपने धर्मोन्माद, अपनी बुद्धिहीन घृणाओं तथा उतनी ही बुद्धिहीन निष्ठाओं के कारण अपनी अत्यधिक विकसित मानसिक शक्ति का प्रभावोत्पादक उपयोग नहीं कर सकता; वास्तव में वह इसी कारण भावात्मक परिपक्वता या मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने में असफल रहता है।"

एक ऐसे तर्क के साथ, जो उसके साथियों की समझ के बाहर था, नाजरीन ने कहा—"अपने शत्रुओं से प्रेम करो; जो तुमसे घृणा करते हैं उनका भला करो। जो तुम्हें कोसते हैं उन्हें आशीर्वाद दो और जो तुम्हें तुच्छ समझकर काम में लाते हैं उनके लिए प्रार्थना करो। जो तुम्हारे एक गाल पर चाँटा मारे उसके सामने दूसरा गाल कर दो और जो तुम्हारा लबादा ले जाता है उसे कोट भी ले जाने से मत रोको।" यह बात निश्चय ही नितान्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत हुई होगी। यह आज भी उन लोगों को मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है जो वक्ता द्वारा सम्बोधित जीवन की नई परिधि में प्रविष्ट नहीं हुए हैं—*वह परिधि जहाँ मनुष्य अपने साथी मनुष्यों का विधान करता है।*

यही प्रेम का सच्चा अर्थ है, चाहे यह ईसा ने कहा हो या आधुनिकतम मानसोपचार-शास्त्रियों द्वारा कहा गया हो। एक व्यक्ति से प्रेम करने का अर्थ उस पर अधिकार जमाना नहीं बल्कि उसका विधान करना है, अर्थात् उसके अनन्य मानव-रूप के पूरे अधिकारों को प्रसन्नता के साथ प्रदान कर देना है। वह सच्चा प्रेम नहीं जिसमें कानून या निर्भरता और अधिकार के बन्धनों द्वारा एक व्यक्ति दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है।

अधिकांश व्यक्तियों—अपने-आपको ईसाई कहने वाले तथा अन्य व्यक्तियों—पर यह बात समान रूप से लागू होती है कि वे प्रेम करने की उदारचरित एवं आत्मप्रेरित योग्यता विकसित किये बिना ही वयस्क हो गए

हैं। इसके अलावा वयस्क होने के साथ उनमें वे भय तथा विद्वेष बढ़ गए हैं जो बचपन की असफलताओं से उत्पन्न हुए हैं तथा जीवन के प्रति उत्तरदायी तथा परिपक्व सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा निरन्तर मूर्खतापूर्ण प्रयत्न करते रहने से दृढ़ हो गए हैं। नज़रेथ के ईसा की अन्तर्दृष्टि को क्रियान्वित करने में वे अधिकांशतः इसलिए असफल रहे हैं कि जिसे वे प्रेम कहते रहे हैं वह वास्तव में प्रेम नहीं, यहाँ तक कि अपने निकटतम सम्बन्धियों से भी उनका सच्चा प्रेम नहीं।

मानसोपचार-शास्त्री चिशोल्य ने तीव्रता के साथ आगे कहा है :

"इस नक्षत्र पर मनुष्य का जीवन बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि पर्याप्त स्थानों पर ऐसे पर्याप्त व्यक्ति होने चाहिएँ जो परस्पर एक-दूसरे से नहीं लड़ते, जो एक-दूसरे से लड़ने वाले व्यक्तियों की श्रेणी में नहीं, और जो इस प्रकार के व्यक्ति हैं कि दूसरों की लड़ाई रोकने के लिए निश्चयात्मक कदम उठायेंगे।"

संक्षेप में एक-दूसरे के गाल पर चाँटा मारना वास्तव में सफल नहीं होता—चाहे कितना ही अधिक अपरिपक्व संसार इसे 'मामूली अक़्ल' की बात कहे। यह दरअसल मामूली बेवकूफी है। इसलिए मैं तुम्हें एक नया आदेश देता हूँ—"मरने-मारने के अनैतिक क्षेत्र को तोड़ने के निमित्त पर्याप्त भावात्मक परिपक्वता विकसित करो।" यह आदेश है—जो मनुष्य की अपनी सामाजिक प्रकृति ने उसे दिया है—जिसकी और किसी बात की अपेक्षा अधिक मौखिक प्रशंसा की गई है परन्तु जिसकी कार्यरूप में अवज्ञा की गई है। इस अवज्ञा का कारण यह रहा है कि इसकी मौखिक प्रशंसा करने वाले स्वयं इसे क्रियान्वित करने या इसके गूढ़ार्थों को समझने के लिए अत्यधिक अपरिपक्व रहे हैं। उनका खयाल है कि उन्हें इस आदेश को मानने के लिए अपनी प्रकृति के विरुद्ध जाना होगा या किसी ईश्वरीय कृपा द्वारा अपनी प्रकृति से ऊपर उठना होगा, परन्तु उन्होंने यह नहीं समझा कि यह आदेश उनसे केवल अपनी प्रकृति की परिपूर्णता की माँग करता है।

यूनानियों के प्रति हम एक और अन्तर्दृष्टि के लिए आभारी हैं—कि

मनुष्य एक विवेकशील पशु है और उसकी पूर्णता के लिए उस की बुद्धि के प्रयोग की आवश्यकता होती है। बुद्धि का प्रयोग एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यवस्था लाता है—भ्रान्ति को दूर करता है और अनाकृति को आकृति प्रदान करता है। यह वरण करता है, उपाधान करता है, संगठित करता है और अराजकता में से एक संसार की रचना करता है।

यूनानी विचारकों ने यद्यपि यह देखा कि बुद्धि मनुष्य में एक शक्ति है, किन्तु उसका एक उपार्जित सफलता के रूप में होना आवश्यक नहीं। अधिकांश मनुष्यों में यह शिथिल रहती है जबकि कोई अन्य वस्तु, जो बुद्धि से भिन्न है, उसके स्थान पर आ जाती है। सुकरात ने अपना सारा जीवन अपने साथी एथिनियनवासियों को यही समझाते हुए बिताया कि वे जिसे बुद्धि का प्रयोग समझ रहे हैं वह वास्तव में निर्बुद्धि का प्रयोग है। अतः मानो सुकरात के कथनानुसार उन्होंने अपने-आपको निर्बुद्धि सिद्ध करने के लिए उसे मार डाला।

इस अन्तर्दृष्टि की कहानी भी अन्य कहानियों की तरह ही है। यूनानी विचारकों ने जो-कुछ देखा, वह सत्य था—मनुष्य उस समय उच्चतम स्थिति में होता है जब वह बुद्धि की शक्ति का प्रयोग करता है। जिस हद तक वह अयोग्य है—आवेग, पूर्वग्रह तथा उपपादन का प्राणी है—उसी हद तक वह ऐसे निर्णय और ऐसे कार्य करता है जो उसके समीप की वास्तविकताओं से सहमत नहीं होते। इसलिए अनेक तरीकों द्वारा वह करणीय कार्य करता है और इस प्रकार अनुरूपता लाने की बजाय वह उलझनें पैदा करता है और सत्य की बजाय भूल। संक्षेप में, जो व्यक्ति बुद्धि के बिना रहता है वह उस शक्ति का उपयोग नहीं कर पाता जिससे मनुष्य कोरी आत्मीयता से आंशिक मुक्ति पाकर उसी बाह्य जगत् में प्रवेश करने योग्य होता है जिसमें अन्य व्यक्ति रहते हैं; यही वह शक्ति है जिसके द्वारा वह तात्कालिकता से बचकर समय के दीर्घ क्षेत्र में प्रवेश कर पाता है जिसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य कारण तथा परिणाम के क्रम के साथ आते-जाते हैं; यही एक शक्ति है जिसके द्वारा वह कोरी परम्परा को आदर्श के पक्ष में त्यागने के योग्य हो

जाता है। यह अन्तर्दृष्टि सत्य थी किन्तु यूनान में या अन्य स्थानों में ऐसे व्यक्ति बहुत थोड़े थे जिनमें इतनी परिपक्वता थी कि वे विवेक को अविवेक की अपेक्षा महत्त्व दें।

बुद्धि की शक्ति समानता और असमानता, कारण और परिणाम, दिक् एवं काल के सम्बन्ध, मात्रा तथा गुण, अन्दरूनी और बाहरी तथा महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन के तार्किक अर्थों को समझने की शक्ति है। इस प्रकार के तार्किक अर्थों को समझने की मानव-मस्तिष्क में एक अति अनुपम सुप्त शक्ति है। यदि यह जन्म से बचपन और बचपन से वयस्कता तक स्वस्थ रूप से विकसित होती है तो यह स्वाभाविक शक्ति प्रयोग के लिए अधिकाधिक उन्नत अस्त्र बन जाती है। किन्तु, जैसा कि हमने देखा है कि मानसिक परिपक्वता की ओर यह विकास स्वयमेव नहीं होता। भावात्मक रुकावटों द्वारा इसमें अवरोध आ सकता है। उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति अपनी बुद्धि की शक्ति का उस अवस्था में पूर्ण विकास नहीं करना चाहेगा जबकि ऐसा करने से उसे एक ऐसी भावात्मक निर्भरता का त्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जो उसके लिए अनिवार्य हो चुकी है।

चूँकि अधिकांश व्यक्ति वयस्कता में प्रवेश करते समय परिपक्व न होने के लिए अपने साथ बहुत से अज्ञात कारण लाते हैं, अतः अधिकांश व्यक्ति बुद्धि की आवाज की ओर अनिच्छा से ध्यान देते हैं; और अन्तर्दृष्टि का वरदान, जो मनुष्य को यूनानियों तथा अन्य समान मस्तिष्कों द्वारा शताब्दियों से मिलता चला आ रहा है, अंगीकार करने की अपेक्षा अधिकतर अस्वीकार किया जाता है।

मानव-प्रकृति-सम्बन्धी एक अन्य अंतर्दृष्टि की अभिव्यक्ति कला-कौशल तथा विद्या के जागृति-काल में विभिन्न प्रकार से हुई थी। उन वर्षों में मनुष्य पुराने शासन के अन्तर्गत उद्धत होते जा रहे थे। वे दीर्घकाल तक आध्यात्मिक अन्धविश्वासों से बँधे रहे थे। उन्हें सामन्तशाही ने बहुत समय से कबूतरों के दरबों की तरह विभिन्न सामाजिक पदों से विभक्त कर रखा था। मनुष्यों में मुक्ति की यह भावना प्रस्फुटित हो रही थी कि मनुष्य को अपना

भाग्य स्वयं खोजना है—सुदूर-स्थित स्वर्ग से नहीं किन्तु इसी पृथ्वी पर—और उसके भाग्य को यह बताना चाहिए कि वह एक व्यक्ति के नाते क्या है; किसी विशेष सामाजिक या आर्थिक वर्ग के सदस्य के नाते नहीं।

वह अन्तर्दृष्टि एक परिपक्व अन्तर्दृष्टि थी जिसने मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत पार्थिव सत्ता से परिचित होने तथा अपनी आन्तरिक शक्तियों का स्वतन्त्र सक्रिय प्रयोग करने का आमन्त्रण दिया। किन्तु चूँकि इसे अधिकांशतः यौवनोन्मुखी मस्तिष्कों ने ग्रहण किया था अतः ज्यादा-से-ज्यादा इसकी यौवनोन्मुखी व्याख्या ही हो सकी।

जागृति-काल की अतिशयताओं, असत् कार्यारम्भों, अस्थिरताओं तथा चंचलताओं का यही कारण था, क्योंकि किसी निश्चित लक्ष्य के बिना क्रियात्मक बनना अन्दर से अनियंत्रित होना है। प्रायः यह आत्म-जागरुकता के यौवनोन्मुखी स्तर पर स्थिर हो जाना होता है।

स्वतन्त्रता की माँग के साथ स्वतन्त्रता का हेतु स्पष्टतया न जानने का कारण उस अतिशीघ्रता तथा भयंकर कट्टरता का भी कारण था जिससे अनेक मस्तिष्क मध्ययुग से मुक्त होकर एक नई व्यवस्था में आश्रय लेने दौड़े थे। धार्मिक सुधार ने, जो जागृति-काल का धार्मिक रूप था, मनुष्य को केवल इतना स्वतन्त्र होने का आमन्त्रण दिया कि वह एक कट्टरता की बजाय दूसरी अपना सके। इसने उसे अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में सचमुच परिपक्व होने का निमन्त्रण नहीं दिया।

वह आधुनिकतम महान अन्तर्दृष्टि जिसने मनुष्य को परिपक्वता की ओर आमन्त्रित किया है, विज्ञान के विकास के साथ उत्पन्न हुई। वैज्ञानिक पद्धति को साधारणतः मानव-प्रकृति-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि नहीं समझा जाता; किन्तु असल में यह ऐसा ही है। यह इस तथ्य की एक व्यवस्थित अभिव्यक्ति है कि मनुष्य उस जाति का प्राणी है जो अपनी ऐन्द्रिय तथा आत्मीय सीमाओं का अतिवर्तन करने योग्य है।

मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि अन्य महान अन्तर्दृष्टियों की भाँति ऐसे संसार में आई जो उसके लिए तैयार नहीं था। विज्ञान के फल अनेक व्यक्तियों ने

ग्रहण किए; किन्तु वैज्ञानिक पद्धति थोड़े से ही व्यक्तियों ने प्राप्त की, यद्यपि इस पद्धति की प्रयुक्ति में न कि उसके फल के प्रयोग में मानव-परिपक्वता की सबसे बड़ी आशा थी। मूर्ख-से-मूर्ख भी वैज्ञानिक प्रयोग के उच्चतम फलों का उपभोग कर सकता है। अपराधी उन्हें अपनी नैतिक अपरिपक्वता तथा विकृति में प्रयुक्त कर सकता है। ताला खोलने, बटन दबाने, डायल घुमाने, गीयर बदलने आदि कार्यों में किसी भी परिपक्व ज्ञान, उत्तरदायित्व की भावना, परानुभूति या पूर्णता के दार्शनिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। उन्हें बच्चे की आत्म-केन्द्रितता तथा आत्म-अभ्युदय के कामों में उतना ही लगाया जा सकता है जितना कि परिपक्व सामाजिक केन्द्रितता के कामों में।

इस प्रकार जबकि वैज्ञानिक आविष्कार परिपक्व और अपरिपक्व दोनों की समान रूप से शक्ति बढ़ाते हैं—और इस हद तक बढ़ाते हैं कि कुछ बच्चों-जैसे मस्तिष्क के लोग सारे संसार का विनाश कर सकते हैं—तो विज्ञान की अन्तर्दृष्टि का उद्देश्य पूरा नहीं होता। *मनुष्य वह प्राणी है जो अपनी ऐन्द्रिय तथा आत्मीय सीमाओं का अतिवर्तन करने की इतनी क्षमता रखता है कि वह अपने संसार और संसारी में स्थित स्वयं के बारे में अधिकाधिक ज्ञान-लाभ कर सकता है।* यही अन्तर्दृष्टि मानव को परिपक्वता तक पहुँचने के लिए आमन्त्रित करती है। लेकिन यह अन्तर्दृष्टि अभी तक अग्राह्य तथा अधिकांशतः उपेक्षित रही है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दो नाटकीय अन्तर्दृष्टियाँ क्षितिज पर प्रकट हुईं। उनकी दो उल्लेख्य वाक्यों में परिभाषा की गई—'जन्म से समानता' तथा 'शासित की सहमति'। प्रथम ने इस पुरानी धारणा का खण्डन किया कि मनुष्य किसी वर्ग-विशेष का पट्टा लेकर पैदा हुआ है। दूसरे ने समस्त मनुष्यों के इस अधिकार की पुष्टि की कि उन्हें जिस शासन के अन्तर्गत रहना है उसका राजनीतिक ढाँचा तैयार करने में उनका हाथ होना चाहिए।

जनतन्त्रवादी अन्तर्दृष्टि की घोषणा में उसके परिपक्व उत्तरदायित्व तथा कल्पना द्वारा समझे जाने तथा कार्य किये जाने की गारण्टी नहीं थी।

यहाँ तक कि इस अन्तर्दृष्टि को मूर्त-रूप देने तथा उसे कानूनी करार करने के लिए निर्मित समाज में भी ऐसी गारण्टी नहीं हुई। आज यह स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष है कि जनतन्त्र के नागरिकों की मानसिक, भावात्मक तथा सामाजिक परिपक्वता पर जनतन्त्रवादी अन्तर्दृष्टि निर्भर है। अभी तक संसार के प्रत्येक जनतन्त्र को केवल आंशिक सफलता मिली है, क्योंकि इसके नागरिक भी आंशिक रूप में ही परिपक्व थे। वास्तव में जनतन्त्र के विषय में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सबसे खुशी की बात यह है कि यह उन थोड़ी सी पद्धतियों में से है जो मिश्रित उद्देश्यों तथा भ्रान्ति के दीर्घ काल का खतरा मोल लेने के लिए तैयार हैं ताकि मनुष्य की मानसिक, शारीरिक तथा उत्तरदायित्व लेने की शक्ति बढ़ सके। क्योंकि यह इस प्रकार का खतरा उठाने को तैयार रही है, अतः अपनी निरन्तरता तथा भावी विकास की सुरक्षा के लिए यह परिपक्व मस्तिष्क पैदा कर सकती है।

जब हम संसार के इन प्रमुख सत्यों की ओर देखते हैं, तो समझने लग जाते हैं कि परिपक्वता उन्हें क्या-से-क्या बना सकती थी। हम यह भी महसूस करने लगते हैं कि यदि हम अपने-आपको परिपक्व करने का कोई तरीका ढूँढ सकते हैं तो हम अपने इन खोए भागों को मिलाकर उन्हें फिर जीवित कर सकते हैं। इसके अलावा और कोई तरीका नहीं, क्योंकि अपरिपक्वता में ऐसी अनिवार्य शक्ति है कि वह अत्यधिक परिपक्व अन्तर्दृष्टियों का भी अपरिपक्व प्रयोग करेगी। जब तक हममें से इतने अधिक लोग जीवन के साथ अपने सम्बन्धों में अपरिपक्व रहते आएँगे—शिशुकाल, बाल्यकाल अथवा यौवनोन्मुखी स्तर पर प्रतिरुद्ध बने रहेंगे—तब तक यह महान अन्तर्दृष्टियाँ संसार को बचाने में असमर्थ रहेंगी।

यह अन्तर्दृष्टि अन्य सब अन्तर्दृष्टियों की कुञ्जी है, जिसके द्वारा अन्ततः सभी अन्तर्दृष्टियों को सिद्ध किया जा सकता है। *मनुष्य का मनोवैज्ञानिक विकास उसके शारीरिक विकास के अनुरूप होना चाहिए; शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ उतनी ही बुद्धि में वृद्धि होनी चाहिए*—यह है वह कुञ्जी, जिसके बिना अन्य सब अन्तर्दृष्टियाँ लुप्त हैं।

द्वितीय भाग

हमें बनाने वाली शक्तियाँ

परस्पर-विरोधों की विरासत

जो एक संस्कृति के अन्तर्गत रहते हैं वे उसके दार्शनिक वातावरण में उतने ही अनिवार्य रूप से श्वास लेते हैं जितना कि अपने चारों ओर की हवा से। यदि वह वातावरण निर्मल तथा स्वस्थ है तो वह उनकी दार्शनिकता और मनोवैज्ञानिक वृद्धि में सहायक होगा। हमारे समय का दार्शनिक वातावरण निर्मल तथा स्वस्थ नहीं है। अतः यह उन करोड़ों लोगों को पूर्ण परिपक्वता की ओर बढ़ने नहीं देता जो इसमें रहते हैं और इसी को असलियत माने बैठे हैं।

एक दार्शनिक वातावरण दो तरह से अहितकर हो सकता है। इसमें इस प्रकार के परस्पर-विरोधी तत्त्व निहित हो सकते हैं कि इसमें रहने वाले अनिवार्य रूप से आन्तरिक परस्पर-विरोध की स्थिति में रहने लगें। इसके अलावा यह इसलिए भी अहितकर हो सकता है क्योंकि यह अपरिपक्वता को बढ़ाने में मददगार साबित होता है। हमारे समय का दार्शनिक वातावरण दोनों तरह से अहितकर है।

यदि हमारा काल शृङ्खला-रहित है तो इसका कारण यह है कि वह दार्शनिक रूप से शृङ्खला-रहित है। यदि हमें उसको ठीक करना है तो उसे दार्शनिक रूप में ठीक करना होगा। संक्षेप में, हमें स्वयं अपने लिए एक

दार्शनिक दृष्टिकोण बनाना पड़ेगा जोकि सबसे पहले आन्तरिक विरोधों से मुक्त हो, और दूसरे हमारी मानवीय शक्तियों के परिपक्व विकास को प्रोत्साहन दे सके।

हमारे सांस्कृतिक दर्शन में आज प्रभुता के लिए तीन मुख्य प्रयतन प्रतिस्पर्धी हैं। प्रथम शक्तिवाद का है जो धार्मिक व राजनीतिक दोनों प्रकारका हो सकता है। दृढ़ कट्टरता—चाहे वह कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट, या अन्य किसी प्रकार की हो—एक विशेष प्रकार के चारित्रिक ढाँचे को बढ़ावा देती है। 'आस्तिक' को उस हद तक सच्चा तथा पूर्ण लगन वाला समझा जाता है जब तक कि वह वस्तुओं को श्रद्धा के आधार पर ग्रहण करता है तथा अनुभव के कुछ क्षेत्रों का आलोचनात्मक निरीक्षण नहीं करता। इस प्रकार वह जिस हद तक 'स्वस्थ' है उसी हद तक अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्व को परिभाषित करने का कार्य किसी अधिकारी पर छोड़ देता है—चाहे वह पादरी, मन्त्री या और कोई हो। इस प्रकार दो अर्थों में उसे अपरिपक्व रहने के लिए कहा जाता है—एक, मानसिक रूप में, जिसमें वह एक व्यक्ति के नाते कुछ ऐसे प्रश्न पूछने के मानव-अधिकार को खो देता है जो मनुष्य के मस्तिष्क को उसी समय से तंग करते आ रहे हैं जबसे कि वह मनुष्य हुआ है; और दूसरे, भावात्मक रूप में, वह एक आधारभूत आध्यात्मिक निर्भरता को अपने सारे जीवन की सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करता है।

राजनीतिक शक्तिवाद ने व्यक्ति के जीवन में एक राज्य की बढ़ी हुई प्रभुता का रूप ले लिया है। राष्ट्रवाद आरम्भ में एक मुक्ति दिलाने वाली ताकत थी, किन्तु राष्ट्रों को अत्यधिक शक्तिशाली बनने में देर न लगी और आपस में जमीन या इज्जत के लिए एक-दूसरे का मुकाबला करते हुए इन्होंने अपने नागरिकों का जीवन एक विशाल सेना तथा एक आर्थिक मशीन के रूप में नियन्त्रित कर दिया। एक नागरिक की 'स्वतन्त्रता' केवल उन्हीं कामों को करने की स्वतन्त्रता हो गई जिनके लिए उसे उसके राष्ट्र ने आज्ञा दी। राष्ट्र ने अपने नागरिकों से तत्पर एवं निर्विवाद भक्ति की माँग की, जिस पर दूसरे राष्ट्रों के साथ संघर्ष के समय निर्भय रहा जा सकता था।

'देशभक्ति' ने अधिकतर ऐसे रूप धारण किए जिन्होंने व्यक्ति को अपने राष्ट्र की नीतियों पर बिना आलोचना किए दृढ़ रहने का प्रोत्साहन दिया है—"मेरा देश ठीक या गलत कुछ भी हो" वाली भावना दी है—और अन्य राष्ट्रों के व्यक्तियों की आवश्यकताओं, उनके अधिकारों और उनकी प्रवृत्तियों के प्रति कल्पना को कुण्ठित बनाया है। राष्ट्रवादी देशभक्ति का प्रभाव अन्य राष्ट्रों तथा अन्य राष्ट्रों के व्यक्तियों के साथ सहानुभूति और सहयोग के सम्पर्कों को हतोत्साह करने वाला और इस प्रकार के पृथक्त्व को प्रोत्साहन देने वाला रहा है जो एक-दूसरे के प्रति सन्देह और बैर बढ़ाता है।

इस प्रकार हमारी संस्कृति में शक्तिवाद का प्रयतन, चाहे वह धार्मिक या राजनीतिक या दोनों प्रकार का हो, एक औसत व्यक्ति को अपरिपक्व निर्भरता की स्थिति में रखने के लिए प्रबल रहा है। उसके असली निजी मामलों में उसे निर्णय की स्वतन्त्रता और रचनात्मक सामर्थ्य को त्याग करना सीखना पड़ा और यह सीखना पड़ा कि किस प्रकार उस जीवन को अंगीकार किया जाय जो उन शक्तियों ने बनाया है, जो उसकी कृतज्ञ भक्ति का तो दावा करती हैं किन्तु उसे स्वयं स्वतन्त्र विचार का अधिकार नहीं देतीं।

हमारी संस्कृति में दूसरा बड़ा प्रयतन बौद्धिक, राजनीतिक और सामाजिक उदारवाद है। यह आरम्भ में अठारहवीं शताब्दी—'नये प्रकाश' के युग की देन था। यह इस नये ज्ञान की विशेष कुशलता थी कि उसने दोनों पुराने प्रयतनों का संयोग कराया, जिन दोनों का ही उद्देश्य मानव-प्रकृति को परिपक्व तथा प्रतिष्ठित करना था—पहला था सामाजिक धर्म का प्रयतन, जिस रूप में वह पुराने टेस्टामेण्ट और ईसा के उपदेशों के बीच सोने के धागे की तरह गुजरता है; और दूसरा था मनुष्य की विवेकशीलता में प्राचीन आस्था का प्रयतन।

उदारवाद शक्तिवाद की तरह अपनी ही किस्म के चारित्रिक ढाँचे को बढ़ावा देता है। यह मनुष्य को विश्व की भौतिक-आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को समझने और विश्व के साथ उस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए आमन्त्रित करता है जो उसकी मानवीय सृजनात्मक स्थिति के अनुरूप है।

इसके अतिरिक्त वह मनुष्य को अपने साथियों के साथ उस सम्बन्ध को ढूँढने के लिए भी आमन्त्रित करता है जो मानवीय प्रतिष्ठा की उसकी धारणा को कार्यरूप में व्यक्त करेगा। और भी इससे अधिक वह उसे मनुष्य के पापों तथा तुच्छताओं का अनुभव करने के लिए नहीं बल्कि उसकी सामाजिकता एवं विवेक की उन उच्च शक्तियों के अनुभव के लिए आमन्त्रित करता है जो मनुष्य में स्थित हैं और प्रस्फुटित होने के लिए तत्पर हैं। उदारवाद ने मनुष्य को स्वशासित और स्वयंपूर्ण मानव की पूर्ण स्थिति तक उन्नत होने की प्रेरणा दी।

यदि ऐतिहासिक घटनाओं का कोई एक ऐसा समूह है जिसके लिए हमें अमरीका में सबसे अधिक कृतज्ञ होना चाहिए तो वह यह है कि अमरीकी उपनिवेश स्वतन्त्रता पाने तथा अपनी प्रमुख संस्थाओं को बनाने के लिए ऐसे समय तैयार थे जबकि उदारवाद का सिद्धान्त और किसी भी पूर्व या पश्चात् के समय से अधिक शक्तिशाली था। यह बात नहीं है कि हमारी संस्कृति में उदारवादी प्रवृत्ति तथा मानवीय प्रतिष्ठा की भावना सदैव विजयी रही है, या इन्होंने तमाम व्यक्तियों और संस्थाओं को समान रूप से परिवर्तित किया है; किन्तु जो मनुष्य की परिपक्वता के पक्ष की ओर रहे हैं, उन्हें एक विशिष्ट सुखद मात्रा में अमरीकी परम्परा तथा व्यवस्था से एक प्रकार का समर्थन प्राप्त होता रहा है, जिसे प्रतिक्रिया के सबसे अधिक दुर्दिनों में भी पूर्ण रूप से हटाया नहीं जा सका।

हमारी संस्कृति में तीसरा प्रयतन उन्नीसवीं शताब्दी का यन्त्रवाद तथा अपबुद्धिवाद है। हम साधारणतया यह मान बैठते हैं कि केवल कुछ अपक्रमों को छोड़कर हमारी संस्कृति का अविरत एवं सुसंगत विकास हमारे प्रारम्भिक लेखों में घोषित आदर्शों की ओर होता रहा है। निरन्तरता और प्रगति की इस धारणा ने हमें व्यापक रूप में इस तथ्य के प्रति अन्धा बना दिया है कि *उन्नीसवीं शताब्दी के मुख्य दर्शनों ने उस दर्शन का न केवल समर्थन ही न किया, अपितु वास्तव में उसका विरोध किया है जिसके आधार पर हमारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ बनाई गई थीं।* अठारहवीं

शताब्दी के मुख्य दर्शनों ने मनुष्य को एक गौरव धारण किये हुए देखा, जिसने उससे आशा की कि वह ऐसे अधिकारों के लिए दावा करेगा और उनकी रक्षा करेगा जो उसे तथा उसके साथियों को मानसिक ग्राह्य शक्ति तथा सामाजिक उत्तरदायित्व में विकसित होने का अवसर देंगे। इसके विपरीत उन्नीसवीं शताब्दी के मुख्य सिद्धान्तों ने मनुष्य को व्यापक रूप से यान्त्रिक और उपबौद्धिक शक्तियों की उपज के रूप में देखा; और उसे उन्होंने जो 'अधिकार' प्रदान किए वे आत्म-अभ्युदय के अधिकारों की अपेक्षा विवेकपूर्ण विकास के कम थे।

हम इस विरोधी शताब्दी की, जो हमारी शताब्दी से पूर्व हुई है, अधिक व्याख्या के साथ विवेचना करेंगे। इस विवरणात्मक अध्ययन को आरम्भ करने से पूर्व हमें संक्षेप में यह अवश्य जानना चाहिए कि हमारे इन तीन दर्शनों की विरासत के प्रत्यक्ष विरोध अभी तक व्यापक रूप से देखे क्यों नहीं गए।

केवल एक पूर्ण व्यक्ति ही पूर्णता के अभाव को अच्छी तरह अनुभव करता है तथा एक परिपक्व व्यक्ति ही यह समझ सकता है कि परिपक्वता की अनुभूति न होने पर जीवन में किस चीज की कमी है। साधारण-सी बात तो यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से हममें से बहुत थोड़े लोग ही पूर्ण या परिपक्व हैं; क्योंकि हम सभी किसी-न-किसी हद तक जन्म के बाद से ऐसे व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा अभिसन्धित हो चुके हैं जो स्वयं आन्तरिक विरोधों का शिकार रही हैं।

स्थिति अधिक स्पष्ट होती यदि हमारी कोई संस्था इन तीन मुख्य दार्शनिक प्रयत्नों में से किसी एक को अंगीकार करती और अन्य संस्थाएँ उतनी ही समान स्पष्टता और विश्वास के साथ शेष दो प्रयत्नों को अंगीकार करतीं। तब हम स्वयं अपनी आँखों के सामने तीनों में अन्तर देख सकते। तब हम अनिवार्य रूप से नापते-तोलते और फिर चुनते। किन्तु हम अपने समाज में किसी भी ऐसी संस्था की ओर इंगित नहीं कर सकते जो दार्शनिक रूप से पूर्णतः विशुद्ध है। कोई भी चर्च शक्तिवाद के सिद्धान्त की अमिश्रित तथा निरावरण व्याख्या नहीं करता—इसके नेताओं और संवाहकों के मिश्रित अभि-

संधान के कारण कट्टर-से-कट्टर भी उदारवाद तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अप-बुद्धिवाद से कुछ-न-कुछ प्रभावित हुए हैं। कोई भी आर्थिक व्यवस्था, चाहे वह अपनी हिमायत उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद के शब्दों में ही क्यों न करे वह अधिकतर धर्म तथा अठारहवीं शताब्दी के उदारवाद से पूर्ण रूप से नहीं बची है। चर्च तथा आर्थिक व्यवस्था के विषय में जो-कुछ सत्य है वह घर, स्कूल तथा राजनीतिक व्यवस्था के बारे में भी उतना ही सत्य है। इन सबमें हम सिद्धान्तों का संघर्ष, या सिद्धान्तों में अस्थायी समझौता या पूर्णता के अभाव होने पर पूर्णता का बहाना पाते हैं। जब तक हम इस गम्भीर भ्रान्ति को समझ नहीं लेते, जो हमारी संस्कृति और इस प्रकार हमारे मस्तिष्कों पर छाप डालती है, तब तक हम न तो उस स्पष्टीकरण करने वाली आशा को समझ सकना आरम्भ कर सकते हैं जो परिपक्वता की वित्ति ने दी है और न उन कठिनाइयों को ही समझ सकते हैं जो उस वित्ति की पूर्ण तथा सफल स्वीकृति के मार्ग में आती हैं।

यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी पर उन आँखों के साथ, जिनमें मनोवैज्ञानिकों तथा मानसिक रोगों के चिकित्सकों की दृष्टि है, दृष्टिपात करें तो प्रतीत होता है कि उस शताब्दी में, और अभी तक हमारी बीसवीं शताब्दी में भी जिन सिद्धान्तों की प्रभुता रही है उन्होंने मानव-परिपक्वता को प्रोत्साहन नहीं दिया है। वास्तव में उस शताब्दी के सर्वाधिक परिपक्व सामाजिक विकासों ने अपने आदर्श का समर्थन पुराने सिद्धान्त, सामाजिक धर्म तथा राजनीतिक उदारवाद से प्राप्त किया था।

मुझे जर्मनी में वाइमार में अपने विद्यार्थी-जीवन के उन दिनों का स्मरण है जब मैं उस मकान की सीखचों वाली खिड़की के पास से गुजरा था जिसमें 'पागल दार्शनिक' नीत्शे रहता था। उस समय भी वह एक प्रसिद्ध व्यक्ति तथा भविष्य के लिए शक्ति था। जर्मन विद्यार्थी उसकी *'दस स्पेक जराथुस्त्रा'* नामक पुस्तक अपनी जेबों में रखते थे। वे उसकी *एएटी क्राइस्ट, विल टू पावर* तथा *बीयॉण्ड गुड एण्ड इविल* में से उद्धरण देते थे। वे दया को तुच्छ समझते थे। उस 'नैतिक दासता' का उपहास करते थे जिसकी नजरेथ के क्षुद्र यहूदी

ने सिफारिश की थी; उन्होंने 'अतिमानव' की घोषणा की थी—ऐसा मानव जो 'अच्छाई व बुराई से परे हो।' पृथ्वी पर हलचल करने वाले 'असंख्यों' की उपेक्षा करते हुए परिश्रमी, बहादुर व निर्भय होने की नई 'अच्छी खबर' उन्हें मिली थी जिसके लिए उन्होंने अपने भविष्यवक्ता नीत्शे को धन्यवाद दिया।

नीत्शे के लिए प्रयुक्त 'पागल दार्शनिक' शब्द विशिष्ट रूप से उपयुक्त थे। एडवर्ड आरलिंगटन राबिन्सन ने कहा है :

"वह व्यक्ति जो बहुत दूर तक अकेला जाता है किसी-न-किसी प्रकार पागल हो जाता है।"

नीत्शे ने अपने जीवन में जो-कुछ उदाहरण पेश किया तथा अन्य व्यक्ति के लिए जिसकी सिफारिश की, संक्षेप में वह 'बहुत दूर तक अकेले जाने' का परिणाम था। वह उस अधीनता का विरोध करने में न्यायसंगत था जो उसके आसपास के आदमियों में अत्यधिक पाई जाती थी। इसी प्रकार वह इस धारणा में भी न्यायसंगत था कि प्रत्येक व्यक्ति को, यदि उसे अपनी प्रतिष्ठा रखनी है, अपने-आपको विधानित करना चाहिए, गिराना नहीं चाहिए। किन्तु वह सम्भवतः इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भूल गया प्रतीत होता है कि मनुष्य पारस्परिक सम्बन्धों तथा उत्तरदायित्वों की उपज है—वह अपना वास्तविक रूप 'अतिमानव' बनकर नहीं—चूँकि वह सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश मानव ही पैदा हुआ है—बल्कि उन पारस्परिक विधानात्मक सम्पर्कों द्वारा प्राप्त कर सकता है जो वह अन्य व्यक्तियों के साथ स्थापित करता है। एक पूर्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका सिद्धान्त पागल-पन को आमन्त्रण था—अत्यधिक पृथक्त्व का पागलपन जिसे मनुष्य सहन नहीं कर सकता; और एक पूर्ण ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी के सिद्धान्तों का ही प्रतिबिम्ब था। एक के बाद दूसरी विचारधारा में हमें उसी पागलपन की झलक मिलती है—अर्थात् इस बात पर जोर देना कि एक व्यक्ति या एक मानव-समुदाय, जाति, राष्ट्र या आर्थिक समूह अकेला रह सकता है, अतिमानव बन सकता है। इस प्रकार का सैद्धान्तिक 'पागलपन' परिपक्वता को पोषित नहीं करता।

नीत्शे में एकाकी अहंकार से युक्त व्यक्तिगत अतिमानव था, जिसे एकाकी रहना था। कुछ अन्य जर्मन दार्शनिकों की कृतियों में यही कार्य एक अतिजन, अतिजाति या एक अतिराष्ट्र को सौंपा गया था। इस प्रकार फिटचे ने अपनी *स्पीचिज़ टू दी जर्मन पीपल* में 'उस प्रत्येक प्रारम्भिक वस्तु' का श्रेय जर्मनों को दिया जो 'निरंकुश कानूनों द्वारा नष्ट नहीं हुई' तथा शेष प्रत्येक वस्तु विदेशी घोषित की। उसने अपनी तथा अपने अनेक अनुयायियों की पूर्ण संतुष्टि के लिए सिद्ध किया कि केवल जर्मन भाषा ही 'सच्ची भाषा' है और केवल जर्मन ही 'सच्चे व्यक्ति' हैं। यहाँ तक कि विश्व-द्वन्द्ववाद के गुरु हेगेल ने भी प्रशयिन राज्य को लौकिक पूर्णता का केन्द्र बताया था।

एक दूसरे देश में तथा एक दूसरे विचार-क्षेत्र में एडम स्मिथ ने भी उस शताब्दी के 'पागलपन' में अपना योग दिया जिसमें बहुत से व्यक्तियों ने 'दूर तक एकाकी' जाने का प्रयत्न किया था; क्योंकि अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति से दस वर्ष पूर्व एडम स्मिथ की मृत्यु होने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में जाकर उसके आर्थिक सिद्धान्त ने मनुष्यों के मस्तिष्कों तथा संस्थाओं पर अपना प्रभाव जमाया।

स्वयं एडम स्मिथ के लिए यह सिद्धान्त आर्थिक अराजकता का सिद्धान्त नहीं था। उसके लिए 'ज्ञानपूर्ण आत्म-हित' जन-कल्याण की उत्तरदायी चिन्ता के लिए पर्यायवाची था। किन्तु उसके दृष्टिकोण और उसके कथन में एक विचित्र घातकता थी जिसके कारण अपरिपक्व मस्तिष्कों ने इसे गलत समझा और इसका अनुचित प्रयोग किया। उसका कुछ भी इरादा रहा हो, उसके सिद्धान्त में लोगों ने अधिकांशतः उस बात का समर्थन पाया जिसके द्वारा अधिक शक्ति तथा सीमिति सामाजिक बुद्धि के लोग धन के लिए अपनी लगन तथा अपने साथियों को प्रतिस्पर्धी, कर्मचारी और उप-भोक्ता बनने को न्यायसंगत ठहरा सके।

यह जानना अत्यन्त दिलचस्प है कि जिन व्यक्तियों ने एडम स्मिथ के सिद्धान्त का प्रयोग मनुष्यों के बीच पारस्परिक उत्तरदायित्वों के सम्बन्धों को

काटने के लिए चाकू के रूप में किया, उन्हें बाद में डारविन की गलत व्याख्या में उसी प्रकार का एक और हथियार मिल गया। जब तक कि उन्होंने उसके वैज्ञानिक पूर्वकल्पन को आर्थिक क्षमताओं में बदला तब तक उनके वाक्य 'योग्यतम का उज्जीवन' का यह अर्थ समझा जाने लगा कि मनुष्य धन इकट्ठा कर तथा अपने प्रतिस्पर्धियों को व्यापार से बाहर निकाल कर ही अपनी योग्यता सिद्ध करता है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि आर्थिक संघर्ष से पीड़ित व्यक्तियों के प्रति दिखाई गई सहानुभूति व्यर्थ है—इस प्रकार के पीड़ित व्यक्ति प्रकृति द्वारा अयोग्य बनाये गए हैं।

'आर्थिक मनुष्य' की विति ने अपने स्वार्थ में मग्न प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं बना दिया अपितु मानव के विभागीकरण के एक प्रकार को पोषित किया—इसने मनुष्य के एक स्वभाव को दूसरे के विरुद्ध लड़ा दिया। आर्थिक लाभ कुछ इस प्रकार की वस्तु बन गई जिसको प्राप्त करने के लिए धर्म या नीति के अधीन रहकर काम करने की आवश्यकता न रही। इस प्रकार व्यक्ति का जीवन विभिन्न कोष्ठों में विभाजित कर दिया गया, जिनकी दीवारें इतनी शब्द-अग्राह्य थीं कि एक व्यक्ति 'धार्मिक व्यक्ति', 'नागरिक व्यक्ति' या 'घरेलू व्यक्ति' के रूप में रहते हुए 'आर्थिक मनुष्य' की आवाज न सुन सके। मनुष्य न केवल एक-दूसरे के विरुद्ध विभाजित किये गए बल्कि मनुष्य स्वयं अपने में विभाजित कर दिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के एक और व्यक्ति को उन व्यक्तियों के समूह में समाविष्ट करना उपयुक्त रहेगा जिन्होंने यह सोचा कि मानव-जाति विभागीकरण की पद्धति से उन्नति कर सकती है। हेगेल को अपना गुरु मान दारिद्र्य से पीड़ित एक जर्मन विद्वान दिन-प्रतिदिन ब्रिटिश म्युजियम में बैठा रहकर एक दार्शनिक विकृति की पुष्टि की असंख्य पुस्तकों में खोज किया करता था। हेगेल की इस व्याख्या ने कार्ल मार्क्स को अत्यन्त प्रभावित किया था कि समस्त इतिहास दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष है। हेगेल ने विश्व-आत्मा के सिद्धान्त की क्रमशः रचना करते हुए विरोधी शक्तियों के संघर्ष को केवल एक विचार के रूप में देखा था। मार्क्स इस प्रक्रिया की

स्पष्ट अनिवार्यता से आकर्षित हुआ था। उसने सोचा कि हेगेल का विश्लेषण सत्य होना ही चाहिए—यह इतना सुस्पष्ट एवं विश्वासपूर्ण प्रतीत हुआ कि झूठ नहीं हो सकता था। तत्त्व-प्रतितत्त्व-संश्लेषण; विरोधों का संघर्ष—संघर्ष का एक नये संश्लेषण के रूप में निर्णय—जो स्वयं एक नया तत्त्व बन जाता है; और पुनः संघर्ष, संघर्ष का निर्णय··· ।

मार्क्स को यह अकाट्य तर्क प्रतीत हुआ। इसी के लिए वह प्रतीक्षा कर रहा था। वह उन्नीसवीं शताब्दी के पूँजीवाद के अत्याचारों तथा भ्रान्तियों का सामना घोर घृणा के साथ कर रहा था; दुर्बल हृदयों के व्यक्तियों के करुण रोदन के अतिरिक्त वह इस बारे में कुछ और करना चाहता था। वह सारी व्यवस्था को नष्ट करने के लिए तैयार था। हेगेल ने उसे मार्ग दिखाया। उसने उस तर्क को अपनाया, जिसका प्रयोग हेगेल ने अमूर्त विचारों की दुनिया में किया था, और उसने भूख व प्यास, मेहनत-मजदूरी, शोषण तथा मुनाफेखोरी की कठोर वास्तविकताओं पर उसे प्रयुक्त किया।

ब्रिटिश म्युज़ियम में काम करते हुए उसने अपने ज़माने की आर्थिक प्रक्रियाओं में निहित अराजकता, निरर्थकता तथा मानव-जीवन की क्षति के अनेक प्रमाण इकट्ठे किए। यह भला कार्य हुआ। जो कार्य उसने किया था वह उससे पहले किसी ने छूआ भी न था। और उसके बाद उन बुराइयों के इलाज में वह जुट गया और न केवल अन्वेषक विद्वान् ही बना रहा अपितु हेगेल का शिष्य भी बन गया। पूँजीवादी व्यवहारों की अविवेकता तथा अनैतिकता समाप्त कर दी जायगी—क्यों? क्योंकि मनुष्य अधिक बुद्धिमान, अन्तर्दृष्टि में अधिक दृढ़, अधिक दयालु हो जायगा? संक्षेप में में अधिक परिपक्व हो जायगा? नहीं, बिलकुल नहीं! मनुष्य के विचार व हेतु, चाहे वह परिपक्व या अपरिपक्व हों, अप्रासंगिक बताकर ठुकरा दिये गए। इस विषय से उनका कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया। यह आर्थिक क्षेत्र में प्रयुक्त लौकिक तर्कशास्त्र का काम था : वर्ग-संघर्ष विश्व में प्रगति का हल व साधन बताया गया। यहाँ हम फिर वही विचित्र झलक देखते हैं जिसने उन्नीसवीं-शताब्दी के विचार पर इतनी अधिक छाप डाली थी :

यहाँ फिर मानव-जाति के एक भाग को दूसरे के विरुद्ध आरूढ़ तथा अपने ही लाभ पर पूरी तरह केन्द्रित हुआ देखते हैं।

उन सिद्धान्तों ने, जो विशेषतः उन्नीसवीं शताब्दी के विशिष्ट गुण रखते थे, एक और प्रकार से मनुष्य को अपरिपक्व रहने के लिए प्रोत्साहित किया। जैसा कि हमने देखा है इन सिद्धान्तों ने मनुष्य को न केवल आत्म-केन्द्रितता ही के लिए निमन्त्रित किया बल्कि उसे असंगत को आदर्श बनाने के लिए भी कहा।

नीत्शे के लिए अतिमानव कोई बुद्धिमान मनुष्य नहीं था जो अपनी बुद्धि की शक्ति के पूर्ण प्रयोग द्वारा अपनी साधारण सीमाओं का अतिवर्तन कर पूर्णता को समझ पाया हो। इसके विपरीत वह शक्ति का मनुष्य था—और अपनी शक्ति के आधार पर उन मानदण्डों से मुक्त था जो छोटे मनुष्यों को अवश्य पालन करने पड़ते हैं।

कार्ल मार्क्स ने बुद्धि के प्रयोग का समर्थन भी किया और विरोध भी। पूँजीवादी अपराधों का उसका अपना विश्लेषण तर्क की विजय थी। उसकी इस माँग में कि मजदूर आर्थिक व्यवस्था को स्वयंसिद्ध मानना बन्द कर दे, मस्तिष्क के अधिकाधिक प्रयोग का आदेश था। किन्तु उसने विचार-शक्ति को केवल एक सीमित उपादेयता प्रदान की : सामाजिक पुनर्निमाण की प्रक्रिया में संघर्ष होगा, बुद्धि नहीं; और वर्गहीन समाज का जन्म जब होगा तो एक वर्ग के सदस्यों को दूसरे वर्ग की आवश्यकताओं तथा समस्याओं को देखना होगा।

इतिहास कभी-कभी मनुष्य के कार्यों के साथ अजीब हरकतें करता है। एडम स्मिथ ने अपनी अठारवीं शताब्दी के अन्त में लिखी हुई कृतियों द्वारा मनुष्य की शक्तियों को निरंकुश बन्धनों से मुक्त करना चाहा था; किन्तु उसके कार्य का उन्नीसवीं शताब्दी में इकट्ठा प्रभाव यह हुआ कि मनुष्य स्वार्थ में इतना जकड़ गया कि वह अपनी अनेक रचनात्मक, विवेकपूर्ण तथा परानुभूत शक्तियों का कोई प्रयोग न कर सका। चार्ल्स डारविन ने उपजातियों की उत्पत्ति का एक युक्तियुक्त दृष्टिकोण पाने के लिए प्रबलता के साथ काम

किया किन्तु तथाकथित दर्शन में फँसकर उसके कार्य ने मनुष्य को अपनी बुद्धि की शक्तियों को और गिराने के लिए प्रोत्साहन दिया। फ्रायड ने, जो बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक जीवित रहकर लिखता रहा, मनुष्य की असंगतता के सम्बन्ध में एक धारणा व्यक्त की जो उन्नीसवीं शताब्दी के सिद्धान्तों के ठीक अनुरूप थी। किन्तु मानसोपचार-शास्त्रियों ने, जिन्होंने फ्रायड के अनुयायी बनकर कार्य आरम्भ किया था, अब उसके सिद्धान्तों में इतना संशोधन कर दिया है कि वे बुद्धिवाद के एक नये आन्दोलन के नेताओं के रूप में अपने-आपको पा सकते हैं। फ्रायड द्वारा आरम्भ किये हुए कार्य को वे उस सीमा तक ले आए हैं जहाँ यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मनुष्य असंगत भयों तथा शत्रुताओं की जकड़ में पराजित मनुष्य है, और हमारा सबका उद्देश्य अपने जीवनों तथा संस्थाओं में परिपक्व बुद्धि की वृद्धि करना है।

उन्नीसवीं शताब्दी *अपने विशेष विकासों में* दलबन्दियों व आर्थिक शक्तिशाली दलों की शताब्दी थी—अत्याचारी राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, ट्रस्ट 'उद्योग के चालक' तथा 'आर्थिक नेपोलियनों' की शताब्दी थी। ये तमाम विकास उस शताब्दी के सिद्धान्तों द्वारा न्यायसंगत ठहराये गए थे। सम्भवतः इतिहास में कभी भी मनुष्य द्वारा 'अकेले रहने के' के पागलपन को इतना व्यापक समर्थन नहीं मिला हो, न सम्भवतः कभी इससे अधिक अपरिपक्वता को न्यायसंगत ठहराया गया हो या मानसिक, भावात्मक तथा सामाजिक रूप से अपरिपक्वों को सत्ता सौंपने का और अधिक दुःखद उदाहरण हो।

भौतिक जलवायु की भाँति विचार का जलवायु भी इतना व्यापक है कि जो भी इसमें रहता है वह इसे स्वयंसिद्ध मान लेता है। हम बीसवीं शताब्दी के व्यक्ति—जो अभी भी अधिकांशतः उन्नीसवीं शताब्दी के जलवायु के प्रभाव में रहते हैं—जीवन के दृष्टिकोण के विषय में चिन्तित होना केवल आरम्भ कर रहे हैं, जिसने अत्यधिक प्रतिस्पर्धा तथा निरन्तर की असुरक्षा के साथ एकाकी, भययुक्त तथा शत्रुतापूर्ण व्यक्तित्व की रचना की है; अतः वह व्यक्तित्व पूर्णरूपेण अपरिपक्व है।

उन्नीसवीं शताब्दी ने भी कुछ परिपक्व पुरुषों व स्त्रियों को जन्म दिया,

किन्तु इन पुरुषों तथा स्त्रियों को सत्तापूर्ण संस्थाओं का निर्माण करने की आज्ञा नहीं दी गई बल्कि उन्हें इन सत्तापूर्ण संस्थाओं का मुकाबला करना पड़ा। वे उदारवाद तथा ज्ञान-प्रसारण की परम्परा के जीवित उत्तराधिकारी थे किन्तु इस परम्परा को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इतना गिरा दिया गया कि इसका प्रतिरूप गरीबों के लिए जेन एडम्स द्वारा बनाये हुए भवन में मिलता था जबकि अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इसने अमरीकन अधिकार-विधेयक को प्रेरित किया था।

इस परिच्छेद में हमने जो-कुछ भी प्रयत्न किया है वह यह है कि हमारी संस्कृति आन्तरिक सुसंगतताओं की कहानी न होकर अपरिपक्व संघर्षों की कहानी है। इन संघर्षों से कुछ ऐसे परिणाम निकले हैं जो हमारी परिपक्वता की समस्या के लिए स्पष्टत प्रासंगिक हैं।

सबसे पहले, हमारी संस्कृति का एक प्रतिरूप सदस्य अब एक *स्वतो-विभाजित व्यक्ति* है। वह संदेहों, भयों तथा आन्तरिक विततियों का शिकार है जिनकी अभिव्यक्ति नशेबाजी और यहूदी-मात्र से घृणा, उदासीनता तथा प्रेरक आकांक्षा, शिक्षा में श्रद्धा और शिक्षितों की अवहेलना-जैसे विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। संक्षेप में जहाँ व्यक्ति पर डाले गए अभिसन्धित प्रभावों में पूर्णता की कमी है वहाँ व्यक्ति के पूर्ण या मनोवैज्ञानिक रूप से परिपक्व होने की सम्भावना नहीं है।

दूसरे, हमारी संस्कृति का प्रतिरूप सदस्य स्वतोवर्गीकृत व्यक्ति है। वह प्रतिस्पर्धी सिद्धान्तों के अनुरूप अपने अनुभव की विभिन्न अवस्थाओं को बनाकर कृत्रिम आन्तरिक सामंजस्य कायम करता है जिससे उसका घरेलू व्यक्तित्व, व्यापारिक व्यक्तित्व, धार्मिक व्यक्तित्व, राजनीतिक व्यक्तित्व, रीति-रिवाजों पर चलने वाला व्यक्तित्व व अन्य व्यक्तित्व एक ही शरीर में होते हुए भी एक-दूसरे से इतने अपरिचित रहते हैं जैसे कि एक शहरी मकान में रहने वाले लोग।

तीसरे, हमारी बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के लिए मनोवैज्ञानिक बाल्यकाल से निकलकर परिपक्वता में आना असाधारण रूप से कठिन हो गया है।

जीवन के प्राकृतिक संकट जो उसकी संस्कृति के सम्भ्रमणों द्वारा कई गुने बढ़ चुके हैं, मनुष्य निर्भर तथा उत्तरदायी रहने के असाधारण प्रलोभन को नहीं छोड़ पाता। व्यक्ति के लिए कभी भी, यहाँ तक कि अपनी श्रेष्ठतम अवस्था में भी संसार के साथ दृढ़ ज्ञान सम्पर्कों को स्थापित करना सरल नहीं है, किन्तु उसके लिए ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में ऐसा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है जहाँ शिक्षा अत्यन्त उच्च तथा तुच्छ दोनों समझी जाती हैं, जहाँ माँ बाप दोनों, जो उसे स्कूल भेजते हैं तथा उससे ऐसे परिणामों की आशा करते हैं जिन पर वे गर्व कर सकें, स्कूल की शिक्षा की अव्यावहारिकता के विषय में बातें करते हैं, लोगों के ज्ञान की उनकी आर्थिक सम्पत्ति की अपेक्षा कम प्रशंसा करते हैं और अपनी यह भावना स्पष्टतया व्यक्त करते हैं कि शिक्षक व्यापारियों तथा चलचित्र-अभिनेताओं की तुलना में कुछ नहीं हैं। पुनः एक व्यक्ति के लिए दृढ़ उत्तरदायी सम्पर्कों को स्थापित करना कभी भी सरल नहीं है; किन्तु एक ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में ऐसा करना मुश्किल से भी बदतर हो जाता है, जहाँ रविवार के दिन मनुष्य की भ्रातृ-भावना की प्रतिज्ञा का विरोध सप्ताह के किसी दूसरे दिन अपने अस्तित्व व ऐश्वर्य के लिए किये हुए संघर्ष से होता है। आदर्शों का सम्भ्रमण व्यक्तिगत भ्रान्ति तथा असहायता की भावना उत्पन्न करता है। और हमारे देश का एक आम व्यक्ति सर्वसाधारण कार्य करके जो-कुछ प्रसन्नत पा सकता है पाता है। जैसे बच्चा माँ-बाप के शब्द को ग्रहण करता है उसी प्रकार प्रचलित मानदण्डों को स्वीकार करना अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए आज बुद्धिमानी समझा जाता है।

चौथे, जो सिद्धान्त परिपक्वता के ऊँचे स्तर की मांग करते हैं उनके अनुयायियों की संख्या वयस्क अपरिपक्वता को अच्छा समझने वालों से कम है। जैसा कि हमने देखा है कि हमारी परम्परा का एक प्रमुख प्रयत्न जोकि बौद्धिक व सामाजिक उदारवाद का प्रयतन है हमसे पूर्ण मनोवैज्ञानिक रूप से विकसित होने के लिए आग्रह करता है। इस परम्परा को मौखिक सहानुभूति प्रदान की गई किन्तु कार्यरूप में इसके लिए कुछ नहीं किया गया, क्योंकि इसके दो

प्रतिस्पर्धी सिद्धान्त कम श्रम माँगते हैं तथा शीघ्र फल देते हैं—धार्मिक व राजनीतिक शक्तिवाद तथा भौतिकवाद और अपबुद्धिवाद के यह दो प्रयतन हैं। ये दोनों उस दर्शन की अपेक्षा जीवन का अधिक सरल तरीका दिखाते हैं जो हमें विकसित होने के लिए प्रयत्न करने को कहता है।

पाँचवें, सिद्धान्तों की प्रतियोगिता से उत्पन्न सहज-प्रकृत सम्भ्रमण इन सिद्धान्तों की विचित्र सन्धियों से और अधिक बढ़ जाता है। सत्तापूर्ण धर्म मनुष्य को धर्म की आज्ञा पालन करने व उस पर निर्भर रहने में बच्चा बनाए रखने की कामना कर सकता है, जबकि उन्नीसवीं शताब्दी का अपबुद्धिवाद आत्मकेन्द्रित बच्चे के रूप में देखना पसन्द कर सकता है। किन्तु संकटकाल में दोनों ही सही रूप में यह अनुभव करेंगे कि उस दर्शन की अपेक्षा उन दोनों में अधिक अनुरूपता है जो मनुष्य को अपना बचपन पीछे रख परिपक्वता की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने लिए कहता है।

छठे, हमारी संस्कृति का प्रतिरूप सदस्य उच्चतम आदर्शवाद व्यक्त करते हुए साथ ही मूर्खतम 'वास्तविकतावाद' यह जाने बिना व्यवहार में ला सकता है कि दोनों परस्पर-विरोधी हैं। राजनीतिक वक्ता थामस जैफरसन या जॉर्ज वाशिंगटन या वुडरो विलसन की बड़ी-बड़ी बातों को उनमें पूर्ण विश्वास प्रकट करते हुए दोहराते हैं और फिर कपटपूर्ण राजनीतिक सौदे करते हैं; व्यापारी अब्राहम लिंकन के शब्द उद्धृत करते हैं पर गरीबों की बस्तियों की सफाई रोकने के लिए एकत्रित होते हैं।

अन्त में हमारी समाज की समस्त मुख्य संस्थाएँ व्यक्तियों की भांति ही स्वतःपूर्ण होने की अपेक्षा स्वतोविभक्त हैं। व्यक्तियों पर उनका प्रभाव कभी भी चरित्र की विश्वस्त तथा उत्पादक पूर्णता लाने वाला नहीं होता।

मानव-पूर्णता के लिए अर्थ-नीति

इतिहास के किसी भी काल में भौतिक रहन सहन का स्तर इतना जल्दी और इतना ऊँचा न उठा था जितना कि औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवाद की अर्थनीति से जीवन-शक्ति पाये हुए देशों में उठा। कभी भी इतनी बहुलता के साथ वस्तुएँ तैयार न हुई थीं, न कभी आविष्कार इतने देदीप्य-

मान होकर बढ़े थे और न कभी असुविधा, कष्ट और रोगों की इतनी बुराइयाँ इतने ज्यादा लोगों के लिए दूर हुई थीं। संक्षेप में, रुपया पैदा करने का तात्पर्य एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करना रहा है जिसके पास अधिक कार्य करने के लिए अधिक वेग वाले और अधिक उपयुक्त साधन हों, जैसे कि पहले कभी किसी समय में नहीं थे। निस्सन्देह, इस सभ्यता ने केवल अधिक वस्तुओं का ही उत्पादन नहीं किया अपितु अधिक अच्छाई भी पैदा की है। लेकिन जब हम उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव को देखते हैं तो यह पूछने को बाध्य हो जाते हैं कि जो-कुछ इसने पैदा किया है क्या वह अच्छा भी है अथवा अच्छाई की ओर बढ़ने की युक्तियुक्त दिशा में है।

हमारी इस 'व्यापारी' सभ्यता की मनोवैज्ञानिक रिपोर्ट तैयार करना भौतिक रिपोर्ट तैयार करने से कहीं अधिक कठिन कार्य है। एक क्षण के लिए हम अपने परिपक्व होने के लिए जीवन के उन अनिवार्य मूल सम्पर्कों पर विचार करें।

ज्ञान-सम्पर्क को ही लीजिए। हमने देखा है कि मनुष्य उस हद तक परिपक्व होता है कि जिस हद तक वह अपनी मौजूदा स्थिति से सुयोग्यता-पूर्वक पेश आता है और उस हद तक भी कि स्थिति के बदलने के साथ आगे ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके पास उपयुक्त आदतें और साधन हों। औद्योगिक पूँजीवाद ने ज्ञान-प्रसारण को बहुत बढ़ा दिया है—उसने पुस्तकों, समाचारपत्रों, रेडियो-कार्यक्रमों का बहुत प्रसार किया है और स्कूल व कालेज भी कई गुने बढ़ा दिए हैं। बहुत से तथ्यों को सामने लाया गया है जो इतिहास में पहले कभी सामने नहीं आए थे; और क्योंकि तथ्यों का प्रसार मुनाफे का एक साधन बन गया है, ज्ञान को मानव-मस्तिष्कों में प्रवाहित करने के लिए अत्यन्त चतुर प्रयत्न किये गए हैं। इस सब का एक आशापूर्ण परिणाम यह है कि मानवीय अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों को क्रमशः अन्धविश्वास, अशिष्ट मापदण्डों, पुरानी धारणाओं और निपट मूर्खता के चंगुल से बचाया गया है।

दूसरी ओर इसमें सन्देह की गुञ्जाइश है कि क्या हमारी इस व्यापारी

सभ्यता का औसत सदस्य अपने-आपको अधिक समर्थ, जीवन को चलाने में अधिक प्रवीण और अपने औद्योगिक पूर्वज से आवश्यक तथ्यों पर अधिक विश्वास के साथ काबू पाये हुए अनुभव करता है। मनोवैज्ञानिक परिपक्वता को इससे बहुत कम वास्ता है कि कितने तथ्य और कितने कौशल सहज ही प्राप्य हैं। उसका सम्बन्ध इससे अधिक है कि *ज्ञात तथ्य और जिस स्थिति का सामना करना है उन दोनों में परस्पर कितना सम्बन्ध है।* आधुनिक मनुष्य, साधारणतया राजनीतिक मामलों में अपने-आपको असहाय अनुभव करता है, समर्थ नहीं। उसके जीवन के अन्य क्षेत्र, उदाहरणार्थ व्यावसायिक क्षेत्र, भी उसी प्रकार असहाय भावना से व्याप्त रहते हैं। यदि हम पूछें कि ज्ञान-प्रसारण के साथ आत्मविश्वास में व्यापक रूप से कमी क्यों आ गई है तो उसके हमें तीन प्रमुख कारण जान पड़ते हैं—प्रथम, आधुनिक मनुष्य को वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए जिन कतिपय वस्तुओं को समझना पड़ता है उनकी संख्या बहुत बढ़ गई है और जीवन की माँगों का मुकाबला करने की उसकी भावना का पलड़ा उसके पक्ष में नहीं है। दूसरे, औद्योगिक प्रक्रियाओं द्वारा ज्ञान-प्रसार ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बढ़ावा न देकर उसको पराश्रितता को बढ़ावा दिया है। उसकी अपनी जानी हुई ऐसी चीजों का दायरा घटता ही जा रहा है जिनको वह स्वयं अपने वास्तविक अनुभव से जाँच सके, और उन चीजों का दायरा बढ़ता जा रहा है जो उसे प्रमाणित माननी पड़ती हैं। इसके अलावा उसके जाने हुए ऐसे तथ्यों की संख्या क्रमशः कम होती जा रही है जिनका सम्बन्ध अपनी मूल आवश्यकताओं को पूरा करने की उसकी अपनी योग्यता से हो। तीसरे, औद्योगिक पूँजीवाद ने ज्ञान को, जहाँ तक सम्भव हो, अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को बेचने के लिए बाजारू वस्तु बना दिया है। इसलिए उसके उत्पादन और वितरण का स्तर अचूकता एवं मानव-उपयोग की दृष्टि से नीचा और आकर्षण में ऊँचा हो गया है। जनता में सच्ची और झूठी, दोनों प्रकार की सूचनाएँ बिना किसी अन्तर के मिली-जुली पहुँचती हैं। वे ही तथ्य बेचे जाते हैं जोकि बेचने वाला समझता है कि खरीददार को

सबसे अधिक प्रिय होंगे—जैसे कि किसी व्यक्ति की निन्दा अखबारों की सुर्खी का विषय बन जाता है; और बहुत से 'तथ्य' तो बहुधा तथ्य ही नहीं होते, बल्कि एक विशेष स्वार्थ वाले गुट के विचार-मात्र होते हैं जोकि जनता से अपनी किसी योजना को स्वीकृत कराने में अपना लाभ समझता है। तो क्या अब हम यह कहें कि उद्योगवाद परिपक्वता के लिए एक ऐसी शक्ति है जिसने बहुत लोगों को 'अधिक ज्ञानवान' बना दिया है? या हम यह कहें कि यह अपरिपक्वता की वह शक्ति है जिसने बहुत से व्यक्तियों को अपने अज्ञान और असहाय के लिए आत्म-अपराधी ठहराया है? उत्तर मिश्रित मिलेगा।

इसी प्रकार अन्य सम्पर्कों से सम्बन्धित उत्तर भी मिश्रित ही होगा—उदाहरण के लिए लैंगिक सम्पर्क ही लीजिए। हमारी व्यापारी सभ्यता में मानव-इतिहास के प्राचीन नियम की अपेक्षा पुरुष का नारी पर अथवा नारी का पुरुष पर कम अत्याचार होता है, जिसका मतलब है कि मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की दिशा में गहरा प्रभाव पड़ता है। पहले जमाने की अपेक्षा आज मनुष्य बच्चों का-सा शासन कर आत्म-महत्त्व की अपनी आवश्यकता पूरी करने में कम समर्थ है; और नारियाँ अपनी पूरी वैयक्तिक शक्तियों को विकसित करने में अधिक सफल हैं, जिस कारण उन्हें आत्मरक्षा और आत्म-महत्त्व के लिए बच्चों-जैसा समपर्ण नहीं करना पड़ता। दूसरी ओर हमारी व्यापारी सभ्यता ने लैंगिक विषय को जनता की खरीददारी के लिए व्यापक रूप से आकर्षक बना दिया है। दुखी अपरिपक्व लिंग के एक दुःखद रूप को चलचित्र-निर्माताओं से लेकर अन्तर्वस्त्र बनाने वालों तक, सुगन्धियों के विज्ञापकों से लगाकर सफल रोमांस लेखकों तक—सबने ही बाजार में ला पटका है। तो क्या हमारी इस अर्थ-व्यवस्था ने लैंगिक परिपक्वता अथवा अपरिपक्वता का पोषण किया है? उत्तर मिश्रित मिलेगा।

जहाँ तक हमारे दर्शन और परानुभूति के सम्पर्कों का सम्बन्ध है, इनका उत्तर भी कम मिश्रित न मिलेगा। औद्योगीकरण ने मनुष्य-मात्र को आपसी सम्बन्ध में बाँधने के लिए जहाँ 'एक विश्व' के विचार को पुष्ट किया है

वहाँ उसने समान रूप से ही मानवता को राष्ट्रों में, वर्गों में तथा 'उन्नत' और 'पिछड़े हुए' लोगों में विभाजित कर दिया है। और भी, क्योंकि इसने एक सामान्य व्यक्ति की उसकी औद्योगीकरण से पूर्व काल की वह भावना नष्ट कर दी है कि वह अपने समाज का एक अंग है—एक सुरक्षित एवं गौरव-मय अंग—अतः हमारी आर्थिक पद्धति ने उस सामान्य व्यक्ति को क्रमशः किसी विशिष्ट स्वार्थ वाले दल का सदस्य बनने के लिए बाध्य किया है और उस दल को किसी अन्य दल के विरोध में लगा रखा है। वह एक व्यापार-संघ, उत्पादक-संघ या यूनियन अथवा किसी जाति के बड़प्पन को कायम रखने के लिए बने किसी दल में शामिल हो जाता है और अन्य दलों के प्रति उसकी सहृदय भावना कम पड़ती जाती है।

मानव-परिपक्वता के लिए औद्योगिक पूँजीवाद के पूरे प्रभाव को नापना आसान नहीं है। हमारे यहाँ जनता का मत जानने के साधन मौजूद हैं। किन्तु जनता की परिपक्वता जानने का अभी तक कोई साधन नहीं है। परिपक्वता के तराजू में हमें उस चारित्रिक गठन को गम्भीरतापूर्वक तोलना चाहिए जिसे हमारी व्यापारी सभ्यता ने जन्म दिया है।

मनुष्य का व्यवसाय उसके चारित्रिक गठन पर एक दृढ़ और विभिन्न प्रभाव डालता है। वह मनुष्य की केवल कई खास बातों की ओर जागरूक होने की आदत डालता है, वह एक दी हुई परिस्थिति में यह निर्धारित करता है कि मनुष्य किस बात को देखेगा और किसे अनदेखा छोड़ देगा। वह मनुष्य को अपनी प्रकृति के कतिपय पहलुओं को महत्त्वपूर्ण समझने और दूसरों के पहलुओं का महत्त्व कम करने की आदत डालता है। उससे कुछ कार्यों और अनुभवों की तब तक पुनरावृत्ति होती रहती है जब तक वह अभ्यास और प्रवृत्ति में परिवर्तित नहीं हो जाते। वह मनुष्य की आकांक्षाओं को भी निर्देश करता है और उस बात का निर्णय कराता है कि वह किसको मित्र और किसको शत्रु समझे। जहाँ मनुष्यों के व्यवसाय उन्हें आंशिक रूप में देखने के लिए बाध्य करते हैं वहाँ मनुष्य पूर्णरूप से देखने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते; और जहाँ वह आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोण से देखने के

लिए बाध्य करते हैं वहां परानुभूत दृष्टि नहीं हो सकती।

जब कभी हमारी आर्थिक व्यवस्था पर आक्षेप किया जाता है तो उसके समर्थक इस बात को, जिसका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, गर्व के साथ कहते हैं कि इसने जीवन के भौतिक स्तर को ऊँचा उठाया है। इस तथ्य की निरन्तर पुनरावृत्ति से ऐसा लगता है कि औद्योगिक पूँजीवाद के अन्तर्गत मानव-जीवन के स्तर को उठाने पर ही पूरा ध्यान और सारी शक्ति केन्द्रित की गई है; और ऐसा प्रतीत होता है कि इसीसे मनुष्य की सफलता की परिभाषा निर्धारित हुई है। यदि यही बात होती जो पूँजीवाद मनुष्य की मनोवैज्ञानिक परिपक्वता के लिए एक शक्ति सिद्ध हो चुका होता। असली बात दूसरी ही है—रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना हमारे व्यवसाय का मुख्य कार्य न होकर वह केवल इसकी एक गौण उपलब्धि है; असली उद्देश्य तो पैसा पैदा करना रहा है। जब कभी पैसा पैदा करने और रहन-सहन का स्तर उठाने में संघर्ष हुआ है तो निश्चय ही पैसा पैदा करने को प्रधानता मिली है।

उदाहरण के लिए, यह मानने के लिए एक व्यक्ति को अविश्वसनीय रूप से भोला बनना पड़ेगा कि चलचित्र-निर्माताओं, पशुपालकों, इस्पात तथा कोयले की खानों के निगम-बोर्डों के सदस्यों, जन-सम्पर्क रखने वाले विशेषज्ञों, वस्त्र उत्पादकों, दुग्धशाला लीग के सदस्यों—सभी का मुख्य उद्देश्य मानव-जीवन के रहन-सहन के स्तर को उठाना है; और धन केवल एक अनिच्छित उपलब्धि है। जिन लोगों के पास बेचने के लिए वस्तु तथा श्रम हैं उन्हें ग्राहक चाहिएँ। यह नारा कि "जो-कुछ व्यापार के लिए भला है आपके लिए भी भला है", स्पष्टतः एक ऐसा अर्ध-सत्य है जिसे सुधारकर कहा जा सकता है कि "जो-कुछ व्यापार के लिए भला है, वह सम्भव है अनायास ही आपके लिए भी भला हो।"

हमारे विचित्र आर्थिक ढाँचे में एक बात और है कि वह सम्पूर्ण मानव में दिलचस्पी नहीं रखता, बल्कि मनुष्य के स्वभाव के केवल उन अंगों में दिलचस्पी रखता है जिनसे कुछ आर्थिक लाभ उठाया जा सकता है। इस पद्धति

में एक व्यक्ति का महत्त्व इसलिए हो सकता है कि वह एक मजदूर है—ऐसा व्यक्ति जो बिक्री के माल के उत्पादन में अपने हाथ की मेहनत से मदद पहुँचा सकता हो। वह एक उपभोक्ता की हैसियत से भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है—एक ऐसा व्यक्ति जो अपने धन के बदले माल लेने पर राजी किया जा सकता है। वह रुपया लगाने वाले की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है—एक ऐसा व्यक्ति जिसके पास फालतू रुपया है जिसे निगम चलाने के लिए 'उधार' लिया जा सकता है। वह एक आविष्कर्ता होने के नाते भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है जो बिक्री के लिए नई चीजें बना सकता हो। वह कदाचित् इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि उसको कुछ ऐसा मनो-वैज्ञानिक ज्ञान हो जिससे अनिच्छित उपभोक्ताओं को वह माल खरीदने के लिए राजी कर सकता हो। हो सकता है कि वह इस हद तक गर्वशाली, आकांक्षी और स्नेहपूर्ण हो कि उसके इन गुणों को उसके द्वारा रुपया खर्च करने के कार्यक्रम में बदला जा सके। किन्तु मनुष्य को असली मनुष्य के रूप में हमारी इस आर्थिक व्यवस्था में बहुत थोड़ी दिलचस्पी है। चूँकि उसके लिए पूर्ण परिपक्वता में विकसित होने का अर्थ होगा—अपने मनोरंजन के लिए अधिक सम्पन्न साधनों की प्राप्ति। और तब उसे वे स्पर्धात्मक प्रतिष्ठासूचक अपीलें आकर्षित नहीं करेंगी जो विज्ञापनदाताओं को अतिप्रिय हैं; वह अधिकारहीनों के लिए अनवरत चिन्ता भी करने लगेगा। अतः इस प्रकार की परिपक्वता प्राप्त करने के बाद वह व्यापारियों के मुनाफे के साधन के रूप में इतना कीमती न रहेगा जितना कि वह अपनी वयस्क अपरिपक्वता में है।

हमारी अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित दो अन्य प्रमुख तथ्य भी हैं जो परिपक्वता के निर्माण में बाधा उपस्थित करते हैं। इनमें से एक—जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है—वह है जो मनुष्य की दूरदर्शिता तथा नियोजन की मानवीय शक्तियों को पूरी तरह काम में लाने से रोकता है। दूसरा कारण है कि इससे मानसिक बेईमानी को बहुधा प्रश्रय मिलता है। उदा-हरणार्थ 'स्वतन्त्र साहसिक कार्य' नामक वाक्यांश (जो 'स्वतन्त्र व्यापार' के लिए प्रयोग किया जाता है) अपनी लोकप्रियता के कारण बारबार काम में

लाया जाता है। और यहाँ तक कि वे लोग—या शायद खास तौर पर वे लोग—इसे काम में लाते हैं जो 'स्वतन्त्र व्यापार' छोड़ चुके हैं और बाजार को कन्ट्रोल करने पर तुले हुए हैं। क्योंकि हमारी सभ्यता 'व्यापारी सभ्यता' है, और इसके अलावा, बहुत सी गैर-आर्थिक उद्देश्य वाली संस्थाएँ, अर्थ-व्यवस्था की इतनी पराधीनता को पहुँच चुकी हैं कि उन्हें भी समर्थन, समझौता और छोटी-मोटी कई बेईमानियों को बरतना सीखना पड़ता है।

जहाँ मानसिक बेईमानी सामान्य बुद्धि अपना सुन्दर देशभक्ति की भाँति दिखाई जाती है, वहाँ पुरुष तथा नारियों की पूर्ण परिपक्वता नियम नहीं बन सकती।

अब तक व्यापार एक व्यवसाय न होकर एक कला रहा है। यह एक ऐसी कला है जिसका हरेक किन्हीं निश्चित मानदण्डों, सामाजिक आभारों तथा उत्तरदायित्वों के बिना अभ्यास कर सकता है—सिर्फ मुनाफा बनाने की प्रखर बुद्धि चाहिए। जब तक वस्तुएँ उत्पादक से खरीददार एवं ग्राहक तक पहुँचती रहती हैं व्यापार 'अच्छा' रहता है। किन्तु माल भी अच्छा है या नहीं, इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं देता। इससे भी गया-बीता ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि जिन्होंने उस माल को खरीदा उन व्यक्तियों के लिए भी वह मानवीय विकास की दृष्टि से अच्छा है अथवा नहीं। किन्तु परिवर्तन शुरू हो गया है। व्यापार एक व्यवसाय बनता जा रहा है। व्यापार में लगे हुए अधिकाधिक नर-नारी अब अपने कार्यों के सामाजिक परिणामों पर विचार कर रहे हैं—एक सामाजिक जागरूकता प्रदर्शित कर रहे हैं; वे केवल मुनाफे के प्रति ही जागरूक नहीं हैं बल्कि मुनाफे के परिणामों के प्रति भी सजग हैं। पेशेवर व्यापारी अपने अकेले के स्वास्थ्य के लिए ही नहीं है वरन् अपने साथियों के शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य के लिए भी है।

वास्तव में हमारा समाज, जैसा कि पहले परिच्छेद में हमने देखा है, प्रतियोगी विचारधाराओं की उपज है। आर० एम० मैकआइवरा ने निम्न-लिखित कथन द्वारा हमारी समस्या पर सीधी उँगली रखी है :

"हम प्रजातन्त्रवादी हैं, किन्तु हम प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध निरन्तर

अपराध करते रहते हैं। प्रजातन्त्र का केन्द्रीय विचार, जोकि उसे अन्दर से शक्ति प्रदान करता है, यह है कि केवल व्यक्ति ही व्यक्ति के रूप में प्रधान महत्त्व रखता है धनपति व्यक्ति नहीं; किसी वर्ग का सदस्य व्यक्ति नहीं, धनवान अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं, इस या उस जाति, दल अथवा धर्म से सम्बन्धित व्यक्ति नहीं, केवल व्यक्ति के रूप में व्यक्ति; केन्द्रीय विचार यही है कि व्यक्ति की हैसियत से उसे दूसरों के साथ समान अधिकार और समान अवसर प्राप्त होने चाहिएँ।"[1]

जिस हद तक हम इस विचारधारा को अंगीकार करते हैं उसी हद तक हम मानव की परिपक्वता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और तब हमें उस हर पद्धति को अस्वीकार करना पड़ेगा जो भले ही डालर और सेंटों की दृष्टि से कितनी ही लाभकारी क्यों न हो, मगर मनुष्य को अपरिपक्व रखना लाभप्रद समझती है। जब मनुष्यों का प्रधान ध्येय मानव-परिपक्वता को पोषित करने वाली परिस्थितियों को जन्म देना होगा तभी हमारी अर्थ-व्यवस्था बालकीय मानदण्डों से ऊपर उठकर उस स्थिति को प्राप्त करेगी जो उसके उत्तरदायित्व के अनुरूप होगी।

मस्तिष्क पर राजनीति का प्रभाव

आज सर्वत्र सुना जाता है कि राजनीति मस्तिष्क की चीज है—सबके मस्तिष्क की। न सिर्फ मनोवैज्ञानिक एवं समाज-शास्त्री ही अपितु भौतिक विज्ञान-वेत्ता भी इस तथ्य की ओर जागरूक हो चुके हैं कि जो-कुछ राज-नीतिक रूप से हम पर बीतती है वह हम पर हर प्रकार से बीतने वाली अन्य सभी बातों को निर्धारित करती है; और जो-कुछ भी हम पर अब और भविष्य में राजनीतिक रूप से बीतेगी वह हमारे मानसिक और भावात्मक गठन पर निर्भर होगी।

समाज के सुसंगठन की समस्या आज भी हमारी सबसे कठिन समस्याओं

---

१. सभ्यता तथा गुट सम्बन्धों में 'दि नीड फार ए चेंज ऑव एटीच्यूड,' २४४ न्यूयार्क, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, १९४९.

में से है। यहाँ तक कि मनुष्य की प्रकृति से भोजन और रक्षा-स्थान पाने की मूल और सर्वस्व समस्या भी अब शारीरिक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक हो गई है। समाज के संगठन में व्यष्टि, उसके अधिकार और सम्पत्ति-का समष्टि के साथ मूल सम्बन्ध होता है; उसमें संगठित दलों (राष्ट्रों) का सम्बन्ध भी होता है जो एक-दूसरे के लिए भिन्न और विचित्र है, जिनकी एक-दूसरे से स्पर्धा है, जिन पर अतीत की बातों का असर है और जो मत-भेदों को दूर करने में विभिन्न परिपक्व और अपरिपक्व उपाय काम में लाते हैं।

मन्तव्य और उपायों की पूर्ण परिपक्वता का ध्यान रखते हुए तथा कार्य और कारण के दूरदर्शी और अधिकतम सम्भाव्य की ओर सजग रहते हुए यह देखने में आता है कि राजनीति एक 'खेल' बन गया है जिसमें आदमियों से बड़े बच्चों की तरह व्यवहार करने की प्रत्याशा की जाती है। जीवन के अन्य किसी बड़े क्षेत्र में अपरिपक्वता की इतनी धाक कभी नहीं रही। आज जबकि न सिर्फ हमारा व्यक्तिगत और राष्ट्रीय भाग्य बल्कि समस्त मानव-समाज का भाग्य दाँव पर लगा है, बहुधा ऐसा दिखाई पड़ता है कि हम उन मनुष्यों की कृपा पर निर्भर हैं जो यदि आसमान भी फट पड़े तो भी राजनीति का पुराना खेल, पुरानी वाचालता, पुराने सनकी नियमों और विनाशकारी अहंभावों के साथ खेल को जारी रखने से न चूकेंगे। और इन्हीं लोगों में, सच तो यह है कि हम स्वयं भी शामिल हैं—हम स्वयं अपनी राजनीतिक अपरिपक्वता की कृपा पर निर्भर हैं। जब तक कि हम इस नियम के विरले अपवाद न हों, हम भी उन लोगों में से ही रहेंगे जो अपनी घरेलू और विदेशी नीति को 'शासकों की इच्छानुसार' अपरिपक्व ही रखना चाहते हैं।

यदि हमें राजनीतिक योग्यता बढ़ानी है तो हमें अनुभव करना होगा कि हमारी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ क्या हैं और वह कैसे जन्मी हैं।

राजनीतिक आचरण अधिकांशतः शत्रुतापूर्ण आचरण होते हैं और हम इस शत्रुभाव को जरूरी समझकर ग्रहण करते हैं। जब हम स्थानीय अथवा

अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'सामाजिक हितों के सुसंगठन' के लिए एक अनभिरुचिपूर्ण चिन्ता देखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। लेकिन जब हम मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध, दल को दल के विरुद्ध और राष्ट्र को राष्ट्र के विरुद्ध जाल बिछाते हुए देखते हैं तो हमें आश्चर्य नहीं होता।

हमारा सबसे नजदीक खतरा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर है क्योंकि यहीं पर 'छीना-झपटी और लड़ाई' का सम्पूर्ण विनाश में परिवर्तित हो जाना अधिक सम्भव है। जी० बी० चिशहोल्म ने कहा—"हमें अपने-आपको बराबर यह याद दिलाने की आवश्यकता है कि मनुष्य ने दूसरे मनुष्यों की एक बड़ी संख्या को मारने का हमेशा भरसक प्रयत्न किया है"[1]

मनुष्य का पुराना दृष्टिकोण, जोकि सीमित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था, यह था कि मनुष्य सार-रूप से कलहप्रिय है—एक जन्मजात हत्यारा, जो अस्थायी शान्ति में भी रह लेगा बशर्ते कि सामाजिक नियन्त्रण उसे ऐसा बना रहने दें। नया मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से हत्यारा तभी है जबकि उसका जीवन खतरे में डाला जाता है और योद्धा तभी बनता है जबकि समाजिक अभिसन्धान द्वारा उसे ऐसा बनाया गया हो। आधुनिक मनुष्य तो शायद ही कभी उस स्थिति में होता है जब वह 'स्वाभाविक' कारणों से हत्या करता है, जबकि उसे आत्मरक्षा के लिए तात्कालिक खतरे का सामना करना पड़ता है। उसके अधिकांश हत्याकारी कार्य सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों से ही होते हैं।

यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आशापूर्ण है; पुराने सीमित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में आशा बिल्कुल नहीं थी। हम जैसे-जैसे सामाजिक अभिसन्धान की पूरी शक्ति समझने लगे हैं हम 'अधिक संख्या में व्यक्तियों की हत्या' की नीति की बात स्वीकार करने लगे हैं, क्योंकि रीति-रिवाज और परम्परा ने यह नीति हमसे स्वीकार करा ली है। अतः अभिसन्धित प्रतिक्रिया का

१. 'मानसिक रोग-चिकित्सा और मनुष्य-जाति' से। १९४७ अमरीकी मानसिक रोग-चिकित्सा-संघ की वार्षिक बैठक में दिया गया भाषण।

ज्ञान रखते हुए यह सोचना अकारण नहीं जान पड़ता कि हमारी प्रवृत्तियाँ बदली जा सकती हैं। व्यावहारिक प्रश्न तो यह है कि काफी मस्तिष्कों में में काफी गति के साथ मानव-जीवन की भलाई के लिए इसे बदला जा सकता है कि नहीं।

एक परिपक्व मनुष्य कुछ विशिष्ट व्यक्ति तथा नीतियों के विरुद्ध हो सकता है; वह अपनी तमाम शक्ति तथा साधन उनके विरोध में लगा सकता है। लेकिन ऐसा वह मानव-जीवन और मानव-अनुभव के लिए कुछ निश्चित आदर्शों के लिए ही करता है। सिर्फ अपरिपक्व मनुष्य ही अपने संसार के विरुद्ध व्यापक शत्रुता का व्यवहार करता है; दूसरे लोगों से सम्मान पाने की आशा रखता है; हर विदेशी को 'गन्दा विदेशी' कहता है; पुराने अपमानों को हाथी की तरह याद रखता है; दूसरों की पराजय पर आनन्द मानता है; अपनी महत्ता की भावना किसी ऐसे 'नये गुट' के साथ सम्बद्ध होकर प्राप्त करता है जिसे वह 'दूसरे गुट' के बिलकुल विपरीत समझता है; अटल पक्षपात को नैतिक गुण मानता है; उन दलों में प्रविष्ट होता है और उन्हें ही पसन्द करता है जिनमें अनन्यता हो, इसलिए नहीं कि वह उस दल के दूसरे सदस्यों को पसन्द करता हो; दिन में ही ऐसे सपने देखता है जिनमें वह दूसरों से बड़ा बन रहा हो अथवा उन्हें उपदेश कर रहा हो।

यह जानने में हमें देर नहीं लगती कि ऐसा व्यक्ति घर अथवा जाति में झगड़ा पैदा करने वाला होता है। जहाँ कहीं उसका प्रभाव होगा वहाँ पर तनाव-खिचाव, असंगत क्रोध, अकारण झगड़े, व्यथित गर्व, गलतफहमियाँ, कटु स्पर्धा, निर्दयतापूर्वक विध्वस्त प्रतिष्ठाएँ और साधारणतया चिढ़कर लड़ने-झगड़ने की सम्भावना बनी रहती है। हमने यह समझना शुरू किया ही है कि ऐसा झगड़ालू आदमी हम सब की तरह ही जीवन के हर क्षेत्र में, यहाँ तक कि राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है, बल्कि उसे प्रोत्साहित भी किया जाता है।

हमारी 'शत्रुभाव की अप्रकट शक्ति' में *स्वजातीय केन्द्रीयता* अर्थात्

अपने दल के साथ एक भावात्मक लगाव पाया जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप हम अपने दल की प्रवृत्तियों तथा व्यवहारों को अन्य दलों की अपेक्षा अधिक उचित और न्यायसंगत मानते हैं। हर बच्चे को एक लम्बे अरसे तक परावलम्बी रहकर और उस संसार के एक नन्हे-से भाग का निवासी बनकर, जोकि उसकी 'दुनिया' है, अपने मन और अभ्यास से जैसी-तैसी भावात्मक सुरक्षा बनानी पड़ती है। स्वीकृति प्राप्त करने का उसका अनुभव और वही काम करना जिससे स्वीकृति प्राप्त हो आपस में अविभाज्य रूप से सम्बन्धित हैं—और यह स्वीकृति उसकी दुनिया के बाहर के लोगों की नहीं, खुद उसके अपने परिवार की होती है। अपनी भावनाओं को समझाने और इस प्रकार अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करने की उसकी शक्ति किसी एक भाषा को बोलने की शक्ति से सम्बद्ध है। इस प्रकार तुलना करने और स्वतन्त्र राय कायम करने की उम्र से ही पहले बच्चे का अपने समुदाय के साथ दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यदि उसके चारों ओर ऐसे वयस्क हैं जो उसे विशाल विश्व का भान कराने में प्रोत्साहन देते हैं और यह समझने में मदद देते हैं कि एक भाग आखिर एक भाग ही है तो उसकी स्वजातीय केन्द्रीयता उसकी मनोवैज्ञानिक परिपक्वता को रोक न पाएगी। वह यह समझ लेगा कि अपने परिचित के प्रति स्नेह और व्यावहारिक उत्तरदायित्व दूसरे दलों के प्रति सद्भावना रखने में बाधक नहीं है और न उसकी विभेद-बुद्धि का व्यवहार असंगत है। लेकिन किसी सभ्यता में इस प्रकार परिपक्वता की ओर अभिसन्धित व्यक्ति बहुत कम होते हैं। अधिकांश ऐसे वातावरण में बड़े होते हैं जहाँ स्वीकृति पाने के लिए अटूट वफादारी बरती जाने की ज्यादा सम्भावना रहती है न कि एक ऐसा स्नेह जिसमें विभेद-बुद्धि मिली हो। अतः ऐसी स्वतन्त्रता जिसका बहुत से लोग दृढ़ता के साथ ऐलान करते हैं स्वयं में अपरिपक्व स्वतन्त्रता होती है—वह एक आत्मकेन्द्रित यौवनोन्मुखी विद्रोह की भावना होती है जो किसी खास बात के लिए न होकर वयस्कों के सामान्य तरीकों के प्रति होती है। या यह 'स्वतन्त्रता' बौद्धिक सापेक्षवाद का रूप धारण कर सकती है जो खुद अपरिपक्व है, जो स्वजातीय केन्द्रीयता

का परित्याग कर इस विश्वास का प्रतिपादन करती है कि हर वस्तु समान रूप से भली है तथा ऐसा कोई मापदण्ड नहीं जिससे एक सभ्यता दूसरी से अच्छी समझी जाय।

संक्षेप में, अधिकांश लोग परिपक्वता प्राप्त करने के साथ भावात्मक रूप से यह सोचने के लिए पहले से ही तैयार रहते हैं कि उनका समूह हर प्रकार से ठीक है और अन्य सब समूह उस मात्रा में 'गलत', 'खतरनाक' या 'पिछड़े हुए' हैं कि जिस मात्रा में उनका अपनी परिचित वस्तुओं से विरोध है।

हमारी कतिपय संस्थाएँ विचार करने और महसूस कराने की आदतें बनाने के लिए थोड़ा-बहुत प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार अधिकांश चर्च, स्कूल और विश्वविद्यालय मनुष्य-मात्र की एकता तथा सभ्यता के मूल तत्त्वों की समस्वरता की बात कहते हैं लेकिन संकट-काल में उनमें से अधिकांश पुनः विशुद्ध स्वजातीय केन्द्रीयता को अपना लेते हैं; यहाँ तक कि जब कोई संकट भी न हो तब भी वे स्वजातीय केन्द्रीयता से ऊपर उठने में कोई मदद नहीं देते।

हमारी राजनीतिक संस्थाएँ स्वजातीय की भावना से ऊपर उठे हुए मस्तिष्कों को बनाने में तो असफल रहती हैं किन्तु जो लोग पूरे दिल और दिमाग से ऐसा प्रयत्न करते हैं उन्हें 'देशद्रोही' कहने में वे नहीं चूकतीं। राजनीतिक परम्पराएँ आदमी को 'स्वामिभक्त' एवं अन्धभक्त बनाने तथा किसी विरोधी दल के विरुद्ध मौखिक अथवा सक्रिय शत्रुता-प्रदर्शन के लिए तैयार रहने को प्रोत्साहित करती हैं।

इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा तत्त्व हमारी 'शत्रुभाव की अप्रकट शक्ति' में है—अपरिचित का भय जिसके कारण उस अपरिचित से घृणा करने को तत्पर रहना। इसका मूल कारण बचपन में ही ढूँढना पड़ेगा—इस बात में देखना पड़ेगा कि बचपन में सुरक्षा और परिचय एक ही बात मालूम होती है। किन्तु वयस्कों में अपरिचित का भय अवरुद्ध विकास का चिह्न है। मनुष्य इस भय से ऊपर उठने में पूरी तरह समर्थ है। किन्तु

अधिकांश उस भय को दूर करने के बजाय उसके शिकार हो जाते हैं। वयस्क में तो बाहर वालों के विरुद्ध स्वभावतः ही बच्चे की अपेक्षा अधिक पूर्वग्रह होते हैं। बचपन में जो संकोच और लज्जा होती है वही आगे चलकर सामाजिक रूप से अभिसन्धित वयस्क में सक्रिय शत्रुता बन जाती है; इसके होने का एक कारण राजनीतिक व्यवहार भी है। स्थानीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक क्षेत्रों में अपरिचितों के प्रति तटस्थ रहने को पर्याप्त स्वामिभक्ति नहीं माना जाता जब तक कि समस्त तथ्य समाविष्ट न हों; अपरिचित के प्रति शत्रुता की भावना एक दलीय सदस्य को अच्छा अथवा देशभक्त कहलाने के लिए काफी है।

हम सब दीर्घ जीवन की इच्छा से जन्म लेते हैं। आवश्यकता पड़ने पर इसी इच्छा की अभिव्यक्ति आत्मरक्षा की कार्यवाहियों में होती है। इस प्रकार की कार्यवाही के साथ यह भावना रहती है कि जिस किसी से हमें खतरा है हम उसके शत्रु हैं। इस प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया न कि सिर्फ खतरे की एक बेलाग जागरूकता हमारे शरीर में एक अतिरिक्त शक्ति उत्पन्न कर देती है। आत्मरक्षा के लिए प्राणी का यह साधन, जो हमें उपलब्ध है, इस प्रकार सांस्कृतिक रूप से अभिसन्धित किया जा सकता है कि न सिर्फ प्रत्यक्ष रूप से सामने आये हुए ज्ञात शत्रु के विरुद्ध ही बल्कि सब समूहों और राष्ट्रों के विरुद्ध—जिन्हें हमें अपना शत्रु समझना बताया गया है—हम शत्रु-भाव अपना सकते हैं। राजनीतिज्ञ की एक पुरानी कला का भाग मुख्य रूप से यह भी रहा है कि वह लोगों को दूसरे दल के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाही करते समय यह महसूस कराये कि वह कार्यवाही आत्मरक्षा के कारण ही की गई है।

हमारी 'शत्रु-भाव की अप्रकट शक्ति' में चौथा तत्त्व है क्रोध, पराजय, भय और निराशा का होना जो हमारे वैयक्तिक अनुभव में घटते हैं। प्रायः हर व्यक्ति के पास इतना शत्रु-भाव एकत्रित रहता है कि जब वह समझता है कि वह अपने काम की प्रशंसा अथवा स्वीकृति पा सकता है तो वह आक्रान्त रूप से अपने शत्रु-भाव का व्यवहार करने के लिए तैयार होता है।

आधुनिक सभ्य जीवन का दैनिक रूप व्यक्तियों को अपने अधिकांश भय और क्रोध को प्रत्यक्ष और तात्कालिक कार्यवाही में परिवर्तित करने के लिए निरुत्साहित करता है। वह व्यक्ति को अपनी भावना के वास्तविक शत्रु पर प्रहार करने से भी निरुत्साहित करता है जोकि सम्भवतः उसका 'मालिक' हो या उसी के समान संहारात्मक उत्तर देने की शक्ति रखता हो। अतः उसका क्रोध अवरुद्ध, चिड़चिड़ा और शत्रुता में बदल जाता है और वह अपने मूल विरोधी के खिलाफ न होकर एक दूसरे 'स्थानापन्न' पदार्थ के विरुद्ध हो जाता है। यह स्थानापन्न पदार्थ साधारणतः एक कुर्सी भी हो सकती है जिसे आसानी से ठोकर मारी जा सकती है, अथवा एक ऊँचे स्तर पर एक राजनीतिक दल, एक अल्पसंख्यक जाति अथवा संसार के दूसरे सिरे पर कोई राष्ट्र भी हो सकता है। एक आदमी कुर्सी में ठोकर मारते हुए मूर्ख लगता है। लेकिन हमारी राजनीतिक मान्यताएँ, जो-कुछ भी हैं ऐसी हैं कि अधिकृत रूप से घोषित ठोकर 'लगाने योग्य' शत्रु को ठोकर मारकर वह व्यक्ति बहादुर, स्वामिभक्त और देशभक्त कहलाता है।

यदि एक सभ्यता अपने नागरिकों को परिपक्व नर-नारी बनाना चाहती है तो उसे अपनों का पक्षपात और अपरिचितों का भय दूर करने के लिए प्रोत्साहन देना पड़ेगा, साथ ही इन सबको सद्भावनापूर्ण विशिष्ट स्नेह में परिवर्तित करना पड़ेगा। उसे आत्मरक्षा के लिए 'सामाजिक हितों के संगठन' के रूप में सोचना पड़ेगा, न कि समय-समय पर प्रदर्शन की जाने वाली हिंसा के रूप में। अन्त में उसे पारिवारिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक संस्थाएँ बनाने के लक्ष्य की ओर ध्यान देना होगा जिससे व्यक्तियों के हृदयों से जो शत्रुताएँ दूर न हुई हों उनके जम जाने की सम्भावना कम हो जाय। वह लोगों को ऐसे अधिकतम अवसर देने का प्रयत्न करेगा जिससे उनकी शत्रुताएँ, क्षमता की भावना तथा रचनात्मक और सहयोगात्मक कार्यवाहियों से हल्की पड़ जायँ।

यह सोचना अत्यन्त अनुचित होगा कि हमारी समस्त राजनीतिक प्रवृत्तियाँ और आचरण अपरिपक्व हैं और इस क्षेत्र में परिपक्वता की कोई

गुंजाइश ही नहीं है। बात दूसरी ही है।

अमरीका-वासी ने राजनीति का परम्परागत आनन्द उठाया। वह आनन्द अपरिपक्व रूप से ही उठाया गया है। अमरीकन राजनीति के साथ अनुत्तर-दायित्वपूर्ण ढंग से खेलता रहा है, अपने क्रोध और शत्रुता को इसके द्वारा व्यक्त करता रहा है; अथवा अन्धरूप से अपनी पक्षपातपूर्ण वृत्ति का अनुभव करके सन्तोष पाता रहा है। लेकिन उसने परिपक्व रूप से भी राजनीति का आनन्द उठाया है—कानूनों को आदर्शों के अनुरूप बनाने का यत्न करके; टूटती हुई सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण निर्माण करके; एक के बाद एक सामाजिक आविष्कार करके; अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से विशाल कार्यों के लिए अपने-आपको समर्पित करके; सपक्षीय रिक्त स्थलों को पूर्ण करके तथा लोक-हित के लिए कार्य करके।

हमारे अपने जमाने में, अन्तर्राष्ट्रीय संकट के कारण राजनीतिक क्षेत्र में जो अपरिपक्वता कार्य कर रही है वह असाध्य हानि पहुँचा सकती है। लेकिन इस बीच इस प्रकार के विकास भी हो रहे हैं जो राजनीतिक परिपक्वता की ओर बढ़ने की इच्छा व्यक्त करते हैं और साथ ही उसके आगे उन्नति के लिए प्रोत्साहित भी करते हैं।

इनमें से प्रथम, जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, एक ऐसा कदम है जो सपक्षीय शत्रुता कम करने के लिए श्रम कर रहा है। मैं यहाँ पर नर और नारियों के उन संगठनों, आयोगों और समितियों का उल्लेख कर रहा हूँ जिनकी नियुक्ति किसी सामाजिक समस्या की खोजबीन करने तथा अपनी मालूमात की रिपोर्ट इसी काम के लिए नियुक्त अधिकारियों और जनता को देने के लिए विशेष रूप से की गई है। उदाहरण के लिए हाल के सालों में नगर-पिताओं के प्रयोग ने नगरी के क्षेत्रों में जातीय समस्याओं पर काफी प्रकाश डाला है और हर प्रकार के नर-नारियों का ऐसा मतसंग्रह किया है कि इन समस्याओं को वास्तविकता के आधार पर, न कि सम्पक्षीय मनोवृत्ति से हल किया जाय।

इस प्रकार के आयोग 'राजनीतिक' मामलों को ही सुलझाते हैं। इनमें

सरकार, सरकारी अफसर तथा वह जनता शामिल रहती है जो या तो सरकार का समर्थन करती है अथवा विरोध। फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन संगठनों की खूबी यह है कि ये 'शत्रुता' के स्थान पर 'समन्वय' और 'पक्षपात' की जगह 'निष्पक्षता' रखते हैं। इन आयोगों के अधिकांश कार्यकर्ता इस या उस राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं। वे 'कट्टर' रिपब्लिकन अथवा डैमोक्रेट हो सकते हैं। किन्तु आयोग के सदस्य की हैसियत से वे अपने दलों में आस्था रखते हुए भी सामने आये हुए तथ्यों पर निर्विकार रूप से विचार करते हैं। उनसे कहा जाता है कि वे लोकहित के लिए सामाजिक अन्तर्दृष्टि के निर्माता बनें। अनुमोदन-रूप तथा उत्तरदायित्व का रूप, जिनके बीच वे कार्य करते हैं, राजनीतिक क्षेत्र में एक नई चीज है। वे ऐसे व्यक्तियों को आमन्त्रित करते हैं जो स्वयं उन्नतिशील हों और उसके साथ समाज की उन्नति भी हो।

दूसरी बात है माता-पिता के शिक्षण का आन्दोलन। यह शिक्षण जो विभिन्न चर्च, सरकारी विश्वविद्यालय, बच्चों के ज्ञान-संघ, तथा माता-पिता और अध्यापकों की राष्ट्रीय कांग्रेस आदि संस्थाओं द्वारा दिया जा रहा है, अमरीका के माता-पिताओं के लिए अधिक-से-अधिक प्रामाणिक और मनोवैज्ञानिक सूचनाएँ देता है। इन सूचनाओं में से कुछ तो सिर्फ यही होती हैं कि शिशु को दूध कैसे पिलायें अथवा डॉक्टर आये तब तक क्या करें। और बहुतों का सम्बन्ध घर, स्कूल और समाज के वातावरण से है जहाँ बच्चे का मानसिक, भावात्मक एवं सामाजिक विकास होता है। संसार में यहाँ, वहाँ और सर्वत्र यह प्रसारित किया जा रहा है कि बड़ों का ऐसा व्यवहार, जिससे बच्चों में भय और शत्रुता को प्रोत्साहन मिले, बच्चों के सुखी और सफल तरुण जीवन के अवसर कम करता है। सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक तथ्यों के साथ विशेष रूप से यह प्रचार किया जा रहा है कि वह घर अच्छा घर नहीं, भले ही वहाँ कितनी ही सुविधाएँ क्यों न हों, यदि उसमें बच्चों को मानव-जाति के प्रति अविश्वास, किन्हीं गुटों को 'नीचा' मानना आपसी मतभेद दूर करने के लिए हिंसा को ही 'प्राकृतिक' साधन समझना और

'स्वामि-भक्ति' को स्वजातीय केन्द्रीयता और अपरिचित का भय समझना सिखाया जाय। विशेष रूप से यह बात भी प्रसारित की जा रही है कि प्रजातन्त्र अपने घर से शुरू होता है, जहाँ घर की चहारदीवारी के भीतर बच्चों को अपनी आवश्यकता और कठिनाई कहने की खुली छुट्टी हो और उनकी इच्छाओं को उपहास अथवा दण्ड के भय की वजह से दबाया न जाता हो; जहाँ बच्चों को पारिवारिक समस्याओं और योजनाओं में सहयोग देकर सामाजिक योग्यता और उत्तरदायित्व प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है।

तीसरी बात है विश्व-संकट। यह उस स्थिति पर पहुँच चुका है जहाँ अधिक-से-अधिक लोगों की यह धारणा बन गई है कि उसे खेल-तमाशा मानना असंगत होगा। अतः वे अन्य क्षेत्रों के समस्या सुलझाने वाले अपने अनुभव को इस क्षेत्र में भी अधिकाधिक प्रयुक्त करने के लिए तत्पर हैं यहाँ तक कि शत्रु को अपने अधीन करने का प्राचीन अपरिपक्व आनन्द भी कीमती लगने लगा है। मानव-जीवन का अब अधिक मूल्य नजर आने लगा है।

अमरीकनों के लिए अपनी राजनीतिक अपरिक्वता को दूर करने में चौथी सहायक बात है—ऐसी स्वयंसेवी संस्थाएँ जिनमें लोगों को विधान बनवाने के लिए पक्षपात-रहित भावना से काम करने के लिए कहा जाता है। उदाहरण के लिए दि लीग ऑव वोमैन वोटर्ज, दि अमेरिकन्ज फॉर डैमोक्रेटिक एक्शन तथा दि नेशनल प्रोग्रेस ऑव पेरेन्ट्स एण्ड टीचर्स-जैसी संस्थाएँ अपने सदस्यों को राजनीतिक प्रश्नों और राजनीतिक तरीकों को परिपक्वता के साथ समझने में मदद देना अपना कार्य समझती हैं।

अमरीका की सामाजिक स्वयंसेवी संस्था नागरिकों का निर्माण करने की एक महान प्रयोगशाला है जिसकी प्रशंसा के गीत नहीं गाये जाते। चाहे ऐसी संस्था स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो; और चाहे वह शिशु-कल्याण, सामाजिक आमोद-प्रमोद, जरूरतमन्दों की सहायता, जन-स्वास्थ्य, वयस्क-शिक्षा, विभिन्न धार्मिक विश्वासों का समन्वय, अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय

अथवा जातीय न्याय का कार्य करती हो। उसमें विभिन्न दलों के, विभिन्न मान्यता वाले विभिन्न राष्ट्रीयताओं के और कभी-कभी विभिन्न जातियों और विभिन्न आर्थिक वर्गों के व्यक्ति रहते हैं। ऐसी संस्था में आपसी आकलन को प्रोत्साहन दिया जाता है और पुरस्कृत किया जाता है, तथा स्थिर पक्षपात और पूर्वग्रह को निरुत्साहित किया जाता है। उसमें सद्भावित नर-नारियों को लोक-कल्याण के लिए कुछ काम करने का सुअवसर प्राप्त होता है; ऐसे लोगों के साथ काम करने का मौका मिलता है जिन्हें अपने बनाये हुए दल और वर्गों का बाना उतारने की अनुमति रहती है, और उन वास्तविक परिणामों पर पहुँचा जा सकता है जोकि किसी हद तक समाज को भी बदलते हैं और उन्हें यह विश्वास प्रदान करते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर वे और भी परिवर्तन करने की क्षमता रखते हैं।

एक और बात भी परिपक्वता की ओर ले जा रही है; 'पुलिस राज्य' अथवा 'पंच-राज्य' जिसमें संघर्ष का होना अनिवार्य समझा जाता था—उसकी जगह अब 'सेवा-राज्य' की नई कल्पना लेती जा रही है। यह नई कल्पना व्यक्ति और बड़े सामाजिक दलों के बीच संघर्ष नहीं कराती। वास्तव में वह संगठित समाज को मूल मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति एवं मूल अवसरों की प्राप्ति का साधन मानती है। 'पुसिल-राज्य' का 'सेवा-राज्य' में रूप-परिवर्तन अमरीका में काफी दिनों से हो रहा है। यह परिवर्तन इस कारण अधिकतर छिप गया है कि सामाजिक कल्याण के कार्यों को पुरानी दलीय शत्रुताओं और स्वार्थों के तरीके से लड़-झगड़कर और तर्क करके करना होता है। राजनीति के खेल में सामाजिक विधानों का महत्त्व घटाकर उन्हें फुटबाल के खेल की हैसियत पर पहुँचा दिया गया है। फिर भी छीना-झपटी की बजाय सेवा-भाव की ओर झुकाव इतना बढ़ता जा रहा है कि उसे रोका नहीं जा सकता।

एक और बात—अथवा पिछली कही गई समस्त बातों की अभिव्यक्ति—जिसका हमें उल्लेख करना चाहिए यह है कि दलीय 'श्रद्धा' अब उतनी नहीं रही जितनी कि किसी समय थी। मशीनी राजनीतिज्ञ अधिका-

धिक दुख के साथ यह समझते जा रहे हैं कि वे चुनावों में तब तक विजयी न होंगे जब तक वे स्वतन्त्र राजनीतिक विचारधारा वालों का समर्थन प्राप्त नहीं करते। ऐसे लोग जो अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारों और परिस्थितियों को देखकर मतदान करते हैं, पार्टी-नीति देखकर नहीं। यह तथ्य न सिर्फ उस पुरानी तथा स्वतः उत्पन्न शत्रुता से दूर हो रहे आन्दोलन को प्रमाणित करता है बल्कि यह पेशेवर राजनीतिज्ञों से यदाकदा कार्य और योग्यता के बारे में विचार करने की माँग कर उस आन्दोलन को गति प्रदान करता है।

यह हो सकता है कि हमारे परिपक्व राजनीतिक अभ्यास इतने जल्दी बनते जा रहे हैं कि हम उनको देख नहीं पाते क्योंकि हमारा ध्यान अधिकतर संघर्ष के नाटक पर लगा रहता है। कुछ भी हो, आज राजनीति मस्तिष्क की चीज बन गई है। और यह कितनी खुशी की बात होगी जब मस्तिष्क की परिपक्वता राजनीति को उसके वास्तविक रूप में ले आएगी—यानी जीवन की भलाई के लिए जीवन की वस्तुओं को संगठित करने का विचारशील प्रयत्न होगा।

हम क्या सुनते, देखते और पढ़ते हैं

हमारे चरित्र-निर्माण में चार प्रभाव निरन्तर कार्य करते रहते हैं—समाचार-पत्र, रेडियो, चलचित्र और विज्ञापन। अब हमारे लिए यह मनोवैज्ञानिक प्रश्न पूछना आवश्यक है कि क्या इनका प्रभाव हमारी परिपक्वता के लिए बुरा रहा है या अच्छा?

समाचार लाने, कहानी कहने, संगीत सुनाने और माल बेचने के काम हमारी आवश्यकताओं के लिए मूल रूप से आवश्यक हैं। उनके आसरे हम रहते हैं। मनुष्य जानना चाहता है कि क्या हो रहा है, इसीलिए समाचार लाने वाले का विश्वव्यापी स्वागत होता है। कभी-कभी हम सबको ऐसी कहानियाँ सुनने की आवश्यकता होती है जो हमें अपने-आप से बाहर ले जाकर कल्पना के आधार पर दूसरों के जीवन में प्रविष्ट करने का अनन्य मानवीय कार्य करने दें। वास्तव में हमें परानुभूतिपूर्ण होने के लिए, जोकि

हमारी मनोवैज्ञानिक परिपक्वता के लिए अनिवार्य है, यह जरूरी है कि हम कई भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में कुछ समय के लिए रहें। हमें संगीत की मधुर स्वर-लहरी की भी आवश्यकता है। हमें अपने व्यावहारिक जीवन के सुनियोजन के लिए यह जानना आवश्यक है कि हमारी सुविधा, आराम और बढ़ी हुई कार्यक्षमता के लिए क्या-क्या वस्तुएँ प्राप्त हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि समाचार-पत्र, रेडियो, चलचित्र और विज्ञापन अच्छी चीजें हैं।

फिर भी यह कहना अधिक ठीक होगा कि इन वस्तुओं के अच्छे होने की सम्भावना है, क्योंकि हमारी मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की दृष्टि से यह नितान्त सम्भव है कि रेडियो, चलचित्र और विज्ञापन अपने कलात्मक कृत्यों, जनता तक अपनी निरन्तर पहुँच और गम्भीर मानव-आवश्यकताओं से सम्बन्धित होने के कारण हमारी परिपक्वता में सहायता पहुँचाने से अधिक उसे अवरुद्ध करने में अधिक सहायक हैं। बहुत से जीवनों में तो इन चीजों ने अवरुद्ध विकास को ज्यादा बढ़ावा दिया है।

ये सब प्रभाव एक बृहत् टेकनिकल कौशल द्वारा पुष्ट संस्कृति के अंग हैं। लेकिन यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि ये सब पैसा पैदा करने की संस्कृति के भी अंग हैं, जो ऐसी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें उत्पादन की हर वस्तु का मुख्य मूल्य उसका विनिमय-मूल्य है, उसकी बिकने की क्षमता है। चरित्र-निर्माण करने वाले उपर्युक्त हर तत्त्व में मूल प्रोत्साहन देने वाली चीज है—उत्पादक की लाभ करने की आवश्यकता। उत्पादक संसार को जो-कुछ भेंट करता है उसको मापने के लिए उसका मापदण्ड सर्वप्रथम आर्थिक होता है, मानव-कल्याण अथवा मानव-परिपक्वता की ओर बढ़ावा नहीं। हाँ यदि उस बढ़ावे से उसे नफा होता हो तो दूसरी बात है। जहाँ रुपया कमाना ही सर्वोपरि स्वार्थ हो वहाँ निरन्तर खोज से यह मालूम कर लिया जायगा कि अधिकांश लोग, जैसे भी वे हैं, अधिकतर समय में क्या पसन्द करते हैं। कुछ विभेद-बुद्धि वाले व्यक्ति क्या पसन्द करते हैं, यह आर्थिक दृष्टि से जानना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। आर्थिक रूप से यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं

है कि यदि लोगों में विभेद-बुद्धि विकसित करा दी जाती तो वे क्या पसन्द करते। थोड़े समय के लिए लोग क्या पसन्द करते हैं, इस बात का इतना आर्थिक महत्त्व नहीं जितना कि उनके अधिकांश समय में आकर्षित करने का है। अतः इन चारों अनुज्ञप्ति-प्राप्त मस्तिष्क-निर्माताओं ने एक ऐसे सूत्र की मौलिक खोज की है जो अधिकांश व्यक्तियों को अधिकांश समय के लिए आकर्षित कर सके। इस सूत्र के एक बार स्थापित हो जाने पर लोग जैसे भी हैं उसी दशा में उन्हें रखने से अधिक लाभ है, बजाय इसके कि उन्हें अन्तर्दृष्टि तथा विभेद-बुद्धि के एक नये स्तर की ओर बढ़ने में मदद दी जाय। इन चारों व्यापारों के बारे में यह तथ्य जान लेना नितान्त आवश्यक है कि हर एक ने अपना-अपना विशिष्ट सूत्र पा लिया है और उसी के अनुसार अपने उत्पादन को भी बढ़ाया है। इसलिए अब इनका यह निहित स्वार्थ बन गया है कि जनता उनके माने हुए सूत्र की ओर ही उन्मुख रहे।

एक समाचारपत्र की प्रारम्भिक अपील उन समाचारों में होती है जो किसी के साथ घटित दुर्घटना का समाचार देते हैं। अधिकांश राजनीतिक खबरें 'लड़ाई' की खबर की भाँति गढ़ी जाती है। अधिकांश विदेशी समाचार भी इसी प्रकार ढाले जाते हैं। अधिकांश घरेलू खबरें भी इसी भाँति बड़ी आपत्तिसूचक सुर्खियों की रहती हैं—जैसे किसी को मार डाला गया, ठग लिया गया अथवा किसी पर हमला कर दिया गया; किसी ने हड़ताल बुलाई है; कोई अनधिकृत सौदा कर रहा है; कोई गिरफ्तार कर लिया गया है; कोई अपराधी भाग निकला है; कोई किसी की बुराई कर रहा है। संक्षेप में, अधिकांश समाचारपत्रों ने रुपया कमाने के लिए यह आविष्कार किया है कि अधिकांश व्यक्ति अधिकतर समय में साधारण पथ पर चलने वाले जीवन की अपेक्षा उस पथ से हटे हुए जीवन में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं।

इसलिए समाचारपत्रों का स्वार्थ एक महान आपत्ति में निहित है। अगर उन्हें झगड़ा दीख जाय तो वे उसे बढ़ा-चढ़ा देंगे। अगर वे किसी दुर्घटना को अनावरण कर सकते होंगे तो वे उसे सुर्खी देकर छापेंगे।

हमारी मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की दृष्टि से इस सबका स्पष्टतया बड़ा महत्त्व है। इसका अर्थ यह हुआ कि दिन-प्रतिदिन, वर्ष-प्रतिवर्ष, क्या जवान क्या बुड्ढे हम सबको जीवन का एकांगी तथा विकृत रूप स्वीकार करने के लिए तैयार किया जाता है। हमारे सामने अधिकतर जीवन का शत्रुतापूर्ण और भयानक रूप ही आता है, मैत्रीपूर्ण तथा रचनात्मक नहीं। हमारी सभ्यता में समाचारपत्रों ने अधिकतर लोगों पर उनके बचपन से ही यह प्रभाव डाल दिया है कि 'घटना' का अर्थ ज्यादातर संघर्ष और भीषण आपत्ति ही होता है।

उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में हमारा जनमत समाचार-पत्रों में पढ़ी खबरों से ही बनता है। यदि जो-कुछ हम पढ़ते हैं उसे निरन्तर तेजी के साथ रचनात्मक और शान्तिप्रिय कार्यवाहियों की बजाय विध्वंसात्मक तथा लड़ाकूपन की ओर ले जाया जाता है तो हमारी राय न सिर्फ एकांगी और भ्रान्तिमूलक होगी वरन् हमारे स्वयं और मानव-जाति के लिए बेहद खतरनाक होगी। हमारी अपनी 'शत्रुभाव की अप्रकट शक्ति' बढ़ जायगी शान्ति-स्थापना के कार्यों की ओर हमारी प्रवृत्ति संशयात्मक और निराशावादी हो जायगी। हम फौरन ही सन्देह की दृष्टि से उस व्यक्ति को देखेंगे जो हम पर कुछ लादने की कोशिश कर रहा हो। लड़ाकू कार्यवाही करने या ऐसी लड़ाकू बकवास करने की हमारी भावात्मक तत्परता होगी जिससे शान्ति-पूर्ण कदम उठाना कठिन हो जायगा। हमें इसमें अधिक गर्व अनुभव होगा कि हमारा राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबा दे, बजाय इसके कि दोनों राष्ट्रों में आपसी समझौता हो जाय।

समाचारपत्र के 'सूत्र' का एक प्रबल उदाहरण उस समय मिला जब सेन-फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई। यह स्मरण होगा कि परराष्ट्र-विभाग ने एक महत्त्वपूर्ण नई पद्धति शुरू करने का साहस किया था; उसने देश की प्रमुख अपक्षीय और स्वयंसेवी संस्थाओं को सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि भेजने का निमन्त्रण दिया, जो 'परामर्शदाताओं' की भाँति काम करें। इन परामर्शदाताओं को समस्त बड़े अधिवेशनों में सम्मिलित

होने, विवादास्पद समस्याओं पर आपसी विचार करने, विभिन्न विशेषज्ञों से मिलने तथा उनसे प्रश्न करने और अपने सुझाव रखने, सम्बन्धित समितियों की सिफारिशें करने और अन्त में अपनी संस्थाओं को नियमित रिपोर्ट भेजने की सुविधा दी गई थी। कुछ ही दिनों में उन्हें अपने यहाँ के सदस्यों से उत्सुकतापूर्ण पत्र मिलने लगे। इन पत्रों का तात्पर्य होता था—"हम नहीं समझ पा रहे हैं। तुम्हारा कहना है कि सब काम ठीक से चल रहा है, विश्व-संस्था अवश्य स्थापित हो जायगी। लेकिन समाचारपत्रों से हमें मालूम होता है कि सदस्यों के बीच लड़ाई-झगड़े और मतभेद इतने हैं कि सम्मेलन की सफलता की बहुत कम आशा है। जो कुछ तुम लिख रहे हो क्या तुम्हें विश्वास है कि वह ठीक है? हम झूठी आशा पर रहना नहीं चाहते।"

स्थिति प्रतिनिधिक थी। भीषण संकट दिखाने में निहित स्वार्थ रखने वाले समाचारपत्र मतभेद के हर शब्द से खेल रहे थे और वक्ताओं के हर कठोर शब्द को बढ़ा-चढ़ाकर इतना बड़ा दिखाते थे कि एक संकटकालीन स्थिति मालूम पड़ने लगे। इस संकट के विकास को अगले दिन के अखबार में और उसी दिन भी जारी रखा जाता था।

एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से स्थिति प्रतिनिधिक न थी। आम तौर पर हम जनता के लोगों के पास ऐसा कोई प्रतिनिधि नहीं होता जो समाचारपत्र से भिन्न चित्र प्रस्तुत कर सके। पर सेनफ्रांसिस्को में इस प्रकार के हमारे प्रतिनिधि परामर्शदाताओं के रूप में थे। लोगों के जब वैसे पत्र बराबर आते रहे तो ये परामर्शदाता संवाददाताओं के पास पहुँचे और उनसे पूछा कि वे लगातार ऐसा यत्न क्यों कर रहे हैं जिससे सम्मेलन असफल दिखाई दे। वास्तव में, व्यक्तिगत और नागरिक की हैसियत से ये संवाददाता भी सम्मेलन की असफलता नहीं चाहते थे। किन्तु संवाददाता की हैसियत से वे पुराने 'सूत्र' को सिद्ध करने के लिए उसके अनुकूल समाचार चाहते थे। अपनी सम्मिलित संस्थाओं के प्रतिनिधियों की हैसियत से जब परामर्शदाताओं ने संवाददाताओं से कहा, जो स्वयं पाठकों के एक भाग का प्रतिनिधित्व करते थे, तो समाचारपत्रों को यह विश्वास करने के लिए राजी कर

लिया गया कि अच्छे समाचार भी समाचार समझे जा सकते हैं। सम्मेलन की खबरें देने में क्रमशः एक परिवर्तन होने लगा।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि समाचारपत्र बहुत सी बातों में एक सांस्कृतिक निधि हैं। व्यापकता से समाचार देने के कारण उन्होंने हमें कूप-मंडूक बने रहने से निकालकर विशाल दुनिया के सामने ला रखा है। बहुत से मामलों में उन्होंने बुराइयों को प्रकाश में लाने का साहसपूर्ण काम किया है और मानव-मर्यादाओं के लिए संघर्ष किया है। लेकिन फिर भी यह सच है कि वे अभी भी वयस्क नर-नारियों में विद्यमान मनोवैज्ञानिक अपरिपक्वता को जगाने की ज्यादा कोशिश करते हैं।

रेडियो बहुत से स्थानों से कई बार हमारे घरों में महान स्वर-लहरी, दुनिया को बदलने वाली घटनाओं के संवाद, महान् काव्य, महान भाषण तथा महान नाटक के रूप में महानता उड़ेल देता है। कोई निर्धन-से-निर्धन अगम्य खेत-खलिहान या रसोई ऐसी क्षुद्र न होगी जहाँ रेडियो द्वारा महानता ने प्रविष्ट होना और रहना अस्वीकार किया हो। बिना परिपक्वता में वृद्धि हुए यह सब यों ही हो जाना अजीब बात होती।

रेडियो से महानता ही अकेली वस्तु नहीं जो हमारे मकान और मानस में प्रविष्ट हुई हो। एक तरह से यह तो प्रवेश करने वालों में सबसे कम वस्तु रही है। जहाँ एक प्रशंसनीय प्रोग्राम एक मीटर पर केवल आध घण्टे के लिए ही चलता है वहाँ बीसों निम्नतर प्रोग्राम दूसरे सब मीटरों पर दिन-रात चलते रहते हैं। वार्ता, गायन, वादन, हास-परिहास, सरस प्रश्नोत्तर, समाचार-समीक्षा और सब स्टेशनों से लगभग सभी समय होने वाले विज्ञापन आदि सभी मिलकर शब्दों का एक बवंडर बना देते हैं। कुल मिलाकर महानता का क्षुद्रता से अनुपात विशेष उत्साहवर्धक नहीं रहा।

रेडियो ने एक टेकनिकल विजय प्राप्त करली है और अब भी वह करता ही जा रहा है। लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जब श्रोता रेडियो खोलता है तो उसे दस में से नौ बार जो आवाज सुनाई देती है वह साधारण तुच्छता और अपरिपक्वता की आवाज होती है। यदि मानव-परिपक्वता की

दृष्टि से रेडियो की यह जाँच की जाय कि उसका औसत प्रभाव अथवा उसका अक्सर होने वाला प्रभाव कैसा हुआ है तो उत्तर सन्तोषप्रद न होगा।

तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से रेडियो का सामान्य स्तर हमारी अपरिपक्वता प्रदर्शित करता है बल्कि अपरिपक्वता को उतना ही बढ़ावा भी देता है। संचार के इस नये माध्यम से हमारे चरित्र पर प्रतिदिन क्या प्रभाव पड़ रहा है, विश्लेषण करते वक्त इस तथ्य का ध्यान हमें रखना पड़ेगा। इसके अलावा, रेडियो-कार्यक्रमों का मूल्यांकन उन्हें हमारी सभ्यता से पृथक् समझ कर नहीं किया जा सकता।

असली बात तो यह है कि रेडियो स्टेशनों के कार्यक्रम-संचालक और मालिक भी समाचारपत्रों के सम्पादकों और मालिकों की भाँति उसी प्रकार के व्यापार में लगे हुए हैं। वे उस सूत्र की तलाश में लगे हैं जिससे वे अधिकांश व्यक्तियों को अधिकांश समय तक अपनी ओर आकर्षित किये रहें। उन्होंने दो चीजें मालूम कर ली जान पड़ती हैं—कि अधिकांश व्यक्ति अधिकांश समय मनोरंजन प्राप्त करना चाहते हैं; और कि वह मनोरंजन सबसे अधिक पसन्द किया जाता है जो तात्कालिक भावोद्रेक तो कर दे पर मस्तिष्क पर बोझ न डाले। इन 'मालूमात' को निर्देश मानकर ही रेडियो का सूत्र क्रमशः निर्धारित किया गया है।

कार्यक्रम-निर्माण का एक उसूल यह भी रहता है कि किसी एक समय कुछ मिनटों से ज्यादा लोगों का ध्यान एक चीज की ओर केन्द्रित न रखा जाय। अतः प्रतिदिन का कार्यक्रम विविध-सा रहता है और रात-भर दिन-भर वह मस्तिष्क को एक तरह की कूद-फाँद में लगाये रखता है। ज्यों ही कोई समाचार-समीक्षा सुनाई जाती है तभी फौरन किसी गायक अथवा रहस्यमय कहानी अथवा पहेलियाँ या अतिथि संगीतज्ञों से भरे हुए एक अजीब प्रोग्राम की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। रेडियो के सूत्र के इस पहलू की ओर उन लोगों को ध्यान रखना जरूरी है जो मानव-परिपक्वता को महत्त्वपूर्ण समझते हैं। शिशु-मन से बचपन में होते हुए वयस्क होने तक मानव के मनोवैज्ञानिक विकास का एक मुख्य चिह्न यह है कि उसके ध्यान देने के

समय में वृद्धि होती है। अपरिपक्व मस्तिष्क एक चीज से दूसरी पर कूदता है : परिपक्व मस्तिष्क नियमानुसार आगे बढ़ता है। रेडियो हमारी परिपक्वता को कितना भी क्यों न प्रभावित करे वह जीवन-पर्यन्त अपरिपक्वता का पक्ष लेकर निरन्तर हमारा ध्यान कभी इस चीज की ओर, कभी उस चीज की ओर खींचता रहता है। पाँच मिनिट तक हमारा ध्यान विश्व-संकट पर सचाई से विचार करने के लिए आकर्षित किया जाता है; और फिर इससे भी थोड़े समय के लिए हमें बताया जाता है कि हमारे लिए सबसे जरूरी किसी विशेष प्रकार के रूप अथवा सर्दियों के लिए एकत्र एक विशेष स्थान पर बिकने वाले कपड़े हैं। और तब अकस्मात् ही एक विदूषक मजाक करना शुरू कर देता है और फिर दुबारा यह आशा की जाती है कि हमारा मस्तिष्क और हमारी रुचि उसके हुक्म पर हाजिर रहेंगे। इस प्रकार कभी इस ओर कभी उस वस्तु में दिलचस्पी रखने के कारण हम किसी ओर भी पूरा ध्यान नहीं दे पाते। उदाहरणार्थ—कितने ऐसे मनुष्य हैं जो साबुन, संगीत और ग्रामीण गायकों के बीच यूरोप में भूखों मर रहे बच्चों की अपील पर उतना ध्यान दे सकते हैं जितना कि परिपक्व मनुष्यों को भूखे बच्चों की बात सुनकर देना चाहिए ?

वास्तव में रेडियो के बारे में रेडियो-विज्ञापनों का उल्लेख किये बिना बात करना असम्भव है। रेडियो के दैनिक कार्यक्रम पर विज्ञापन का गहरा पर बेतरतीब प्रभाव तो रहता ही है पर साथ ही कार्यक्रम की हर मद पर भी उसका असर रहता है। रेडियो-उत्पादकों की थैली में रेडियो सुनने वाले प्रत्यक्ष रूप से तो कुछ भी नहीं डालते। विज्ञापन ही उन थैलियों को भरते हैं, और ऐसा वह तब ही कर सकते हैं जब उन्हें विश्वास हो जाय कि हर कार्यक्रम को उनका सम्भाव्य ग्राहक क्रय के अनुकूल मनःस्थिति से सुन रहा है। वह मनुष्य जो अभी विदूषक के मजाक पर हँसा था, मैत्री में पग गया है। विज्ञापनकर्ता की दृष्टि से दो बातें उत्तम व्यापार के लिए ठीक नहीं : वे कार्यक्रम जो मनुष्य की आलोचनात्मक शक्ति को काम में लगा दें तथा वे कार्यक्रम, जो उस आर्थिक ढाँचे को—जिसमें विज्ञापन भी आता है—मूल रूप

से चर्चा का विषय बना दें।

जब किसी यान्त्रिकता का रुपया कमाने के लिए प्रयोग किया जाता है तो जो लोग उस पर निर्भर हैं, उन्हें रुपया पैदा करने का एक सूत्र ढूँढ़ना ही पड़ता है। रेडियो ने भी अपना सूत्र पा लिया है, जबकि समाचारपत्र का स्वार्थ भयानकता में निहित है एवं रेडियो का साधारण तुच्छता में।

तो क्या चलचित्र परिपक्वता में सहायक होते हैं?—इस प्रश्न के पूछने का अर्थ ही इसका उत्तर देना है। हॉलीवुड एक ऐसी रिक्तता का पर्याय बन चुका है जिसकी सेवा में टेकनीकल विशेषज्ञ लगे रहते हैं; और वह एक अत्यन्त लाभदायक रिक्तता है क्योंकि सप्ताह-प्रति सप्ताह अमरीकनों की एक बहुत बड़ी संख्या—जवान और बुड्ढे—सभी इसके प्रभाव में अपने-आपको लाते रहते हैं।

हॉलीवुड से महान चलचित्र आये हैं और उनसे थोड़ी देर के लिए हमें हृदयोल्लास भी हुआ है। लेकिन जब वे चल चुके तो हॉलीवुड के प्रतिरूप चलचित्र सर्वत्र छा गए, जिसके फलस्वरूप देश के हजारों सिनेमाघरों में निस्सार रिक्तता छा गई। आज के चित्र कुछ ही वर्षों पहले के चित्रों से अपेक्षाकृत अधिक कोमल हैं इसके अतिरिक्त ये चित्र चरित्रचित्रण में पहले से अधिक संस्कृत हैं। खलनेता अब अपनी मूँछें कम ऐंठता है; 'दुराचारिणी स्त्री' अपने प्रथम अवतरण में अपने शिकार पर अपनी इच्छाओं का विज्ञापन करने के लिए आँखें नहीं मटकाती। पिछले कुछ वर्षों से चलचित्रों के कथानकों में एक नूतनता लाने की कोशिश की जा रही है—घटनाक्रमों के साथ थोड़ा-बहुत उन मानवीय हेतुओं को जोड़ा जा रहा है जोकि प्रत्यक्ष हेतुओं से कुछ भिन्न होते हैं।

यहाँ भी हमें रडियो-जैसी ही पेन्नीदगी का सामना करना पड़ता है। ऐसा क्योंकर हुआ कि यह महान आविष्कार विकसित होकर परिपक्वता को प्रोत्साहित करने के बजाय अपरिपक्वता को अधिक बढ़ावा देने लगा है। एक वृहत् क्षेत्र के और अतिशय नमनीयता के माध्यम होने के कारण वह मानव-इतिहास में परानुभूत कल्पना को प्रोत्साहित करने में महानतम प्रभाव-

बन सकता था। नाटकों की भाँति वह कुछ नगरों के कुछ ही मंचों तक सीमित न होकर दूर-से-दूर गाँव में रहने वाले अबोध नागरिक को आमन्त्रित कर अन्य लोगों के तौर-तरीके, उनकी आवश्यकताएँ, उनके खतरे और आशाएँ समझने के लिए उनमें एक परिपक्व दृष्टि का विकास कर सकता था। अपने इस नियत कार्य को पूरा करने के लिए उसे हमारी सभ्यता में टेक्नीकल सहायता भी प्राप्त थी; किन्तु उसने इस कार्य को कभी-कभी सिर्फ अनायास ही निभाया है।

इसके अलावा हमें एक आर्थिक कारण भी देखना पड़ेगा। सिनेमा शीघ्र ही एक बहुत बड़ा व्यापार बन गया है। एक-एक चित्र लाखों रुपयों में बनता है; वेतन भी अनाप-शनाप दिया जाता है। बड़े व्यापार का अर्थ है कि उसमें पूँजी भी अधिक लगे, अतः बैंकरों को मिलाया गया। इनके मिलाने का अर्थ यह हुआ कि बड़े व्यापार को लगातार बड़ा बनाते रहने के लिए एक सूत्र मालूम करना आवश्यक था।

हॉलीवुड ने अपना सूत्र पा लिया। शुरू के दिनों में यह सूत्र ऐसे दृश्यों में मिला; जैसे कि एक अभिनेता द्वारा दूसरे पर अंडे फेंकना अथवा जेल से भागे हुए किसी कैदी द्वारा जेली पोशाक पहने कपड़ों की उस टोकरी में छिप जाना; जिसे एक गृहिणी ने रखकर थोड़ी देर के लिए पीठ फेरी हो। दर्शक तालियाँ बजा-बजाकर चिल्लावे। हर उपस्थित निराश व्यक्ति को यह देखकर सन्तोष होता कि दूसरे व्यक्ति के मुँह पर अण्डा लगा है अथवा दूसरे की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा है।

हॉलीवुड को तब भी अपना सूत्र प्राप्त हुआ जबकि 'अमरीका की हृदयेश्वरी' ने अपना मुँह परदे पर दिखाया, हर पुरुष दर्शक उसे प्यार करने लगा जैसा कि वह कभी-न-कभी स्त्री को प्यार करने की इच्छा रखता था और हर स्त्री उस हृदयेश्वरी के स्थान पर अपने-आपको रखने लगी।

हॉलीवुड को अपने अभिनेताओं द्वारा 'प्रेम' के प्रतिनिधिकरण में भी अपना सूत्र मिलने लगा। जब वैलैंनटिनो अमरीकी महिलाओं के हृदयों पर आँधी के तरह छा रहा था तो हर फिल्म-निर्माता साफ-साफ समझ रहा

था कि स्त्रियों की यही कामना थी कि पुरुष उनकी आँखों में उस दृष्टि से देखें जिससे उनके कामकाजी पति नहीं देख पाते। वे चाहती थीं कि पुरुष उनकी ओर रहस्यमय बने रहें और उनके नेत्रों में सौन्दर्य तथा थोड़ा भय भी छाया रहे। वे ऐसा पुरुष चाहती थीं जिसमें सहृदयता और अलगाव ऐसा मिला-जुला रहे कि उनसे सम्बन्ध पैदा करना प्रतिदिन की बात न बन जाय। वे इन पुरुषों को दिन में सपना देखने की-सी स्थिति में चाहती थीं, घर में रोटी लाने वाले की स्थिति में नहीं।

हॉलीवुड को अपना सूत्र उस व्यक्तित्व में भी मिला जिसे सूत्र-रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। जब भटकता हुआ फिरने वाला एक छोटा आदमी डाक की टिकटों-सी मूँछें लगाए, टूटे-फूटे जूते पहने और डरबीशाही हैट सिर पर रखे हुए दुनिया की ठोकरें खाकर हँसी दिलाने वाली अपनी छड़ी हिलाता तो उसकी हार भी जीत मालूम होती। चार्ली चेपलेन प्रत्येक उस व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता था जो अपने साथ अपनी अनिर्णीत निराशाओं और बेढंगी सद्भावना लिये फिरता है और यह विश्वास करता है कि निराशा उसके भाग्य में बदी है।

हॉलीवुड को अपना सूत्र उस नायक में भी मिला जो छः गोलियों वाली बन्दूक लिये एक आलीशान घोड़े पर दौड़ा चला जाता है और किसी दूसरे घुड़सवार को अपने से आगे नहीं निकलने देता और ऐन मौके पर नायिका की जान बचाता है।

हॉलीवुड ने अधिक चलने वाले चित्रों से यह मालूम कर लिया कि लोगों को आकर्षित करने का—अथवा कम-से-कम अधिकतर व्यक्तियों को अधिकतर समय में आकर्षित करने का—अचूक उपाय उनमें प्रतिपूरक अपसंवेदन की भावना जाग्रत करना है। चलचित्रों ने एक बड़े व्यापार का रूप ले लिया है जिसके द्वारा असन्तुष्ट स्त्री-पुरुषों और यौवनोन्मुखी व्यक्तियों का अभूतपूर्व समूह अपनी आशाओं को दिन के स्वप्नों में पूरा होते देख सकता है। यह चलचित्र इन असन्तुष्ट व्यक्तियों को ऐसा कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं दिखाते जिनसे वे अपनी समस्याओं को हल कर सकें। सिनेमा का लक्ष्य -

तो उन्हें ऐसा स्वप्न दिखाना था जो वास्तविकता के मुकाबले अधिक रोमांचित करने वाला हो ताकि दर्शक बार-बार कुछ घण्टे स्वप्न में बिता सकें। रुपया कमाने का यह सूत्र इतना स्थिर हो चुका है कि यहाँ तक उच्च श्रेणी के उपन्यास और नाटक भी जब चित्र बनकर बाहर आते हैं तो वे कुछ और ही दिखाई देते हैं। असन्तुष्ट अपरिपक्व व्यक्तियों के दिन के सपनों के साथ ठीक बैठने के लिए उनमें परिवर्तन कर दिया जाता है।

कल्पना द्वारा इच्छा-पूर्ति—यही मनोवैज्ञानिक अपरिपक्वता का नमूना है। विवेकशील तथा नियोजित कार्यक्रम से इच्छा-पूर्ति—यह मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की पहचान है। बहुत काफी हद तक हॉलीवुड का सूत्र अपरिपक्वता के पक्ष में है। हम कह सकते हैं कि हॉलीवुड, लाखों व्यक्तियों को (१९४० में प्रति सप्ताह अनुमान से ८०,०००,००० व्यक्तियों को) उनकी निराशा और परेशानी को चमकीली कल्पना से बचाने में प्रोत्साहन देनेवाला एक अति लाभप्रद व्यापार है। संक्षेप में हॉलीवुड का स्वार्थ पलायनवाद में निहित है। अतः अनिवार्यतः उसका भावात्मक अपरिपक्वता में निहित स्वार्थ है।

हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा व्यापार विज्ञापन-कार्य है। हमारे जीवन पर इसका भी निरन्तर व्यापक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यह वस्तुतः सभी जगह पाया जाता है। चाहे रात हो या दिन, अगर हमारी आँखें और कान खुले हैं तो हम किसी वस्तु को खरीदने के लिए किसी विज्ञापन को देखते या सुनते रहते हैं।

सब जगह सौदा-ही-सौदा और उसे खरीदने के लिए रुपया : यह एक ऐसी आकृति है जो अमरीकन स्वप्न में निरन्तर छाई रहती है; और यह कोई बुरा सपना भी नहीं है। व्यवहार, आराम, और सुविधा के लिए अपार वस्तु-निर्माण मनुष्य की अच्छी कल्पना-शक्ति का द्योतक है। विज्ञापनों से प्रेरित होकर जो-कुछ हमारी आवश्यकताएँ बनती हैं वे भी अच्छी ही हैं। इसका अधिक भाग हमें अधिक अच्छी चीजें चुनने और योजना बनाने में लगाता है। संक्षेप में, लोगों को यह बता देना कि क्या-क्या निर्माण हुआ है

एक अति उत्पादनशील अर्थ-व्यवस्था के लिए बुनियादी तौर पर जरूरी है।

फिर भी मनोवैज्ञानिक प्रश्न हैं जो पूछे जा सकते हैं—ऐसे प्रश्न जो पुनः हमारी वैयक्तिक और सांस्कृतिक परिपक्वता की समस्या से सम्बन्धित हैं। जहाँ तक निर्माताओं और उनके रखे हुए विज्ञापकों का सम्बन्ध है एक औसत व्यक्ति का केवल इतना ही महत्त्व है कि वह एक उपभोक्ता है। उसका मानसिक और भावात्मक क्रम उनके लिए उसी हद तक काम की चीज है जहाँ तक उसे उभाड़कर उस व्यक्ति को चीजें खरीदने के लिए प्रेरित किया जा सके। मनुष्य के प्रति इस प्रकार का एकांगी दृष्टिकोण—विशेषकर जबकि उसे आकर्षित करने के लिए असीम साधनों को काम में लाया जाता है—मनुष्य के एकांगी विकास के अतिरिक्त और क्या कर सकता है। अतः मनुष्य का पूर्ण परिपक्व विकास इससे सम्भव नहीं। विज्ञापन हमारे मनोवैज्ञानिक विकास को रोक देता है *जबकि हम बहुत अधिक जरूरतमन्द बन जाते हैं और गलत कारणों के लिए वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करने लगते हैं।*

वह हमें बहुत अधिक जरूरतमन्द बना देता है। हमारे जीवन में शायद ही कभी ऐसा अवसर आता हो जबकि हमें किसी-न-किसी माध्यम से यह न बताया जाता हो कि हम रुपया देकर यह अथवा वह वस्तु खरीदें। इसका संचित परिणाम चार प्रकार से पड़ता है—हमें सदैव ही भौतिक असन्तोष के किनारे पर रखा जाता है, ताकि जो-कुछ हमारे पास होता है वह अच्छा नहीं लगता। हमें तैयार माल की आवश्यकता अनुभव करना अधिकाधिक सिखाया जाता है, ताकि हमें अपनी बनाई हुई चीज रद्दी नजर आने लगे। इसका परिणाम यह होता है कि रचना करने का आनन्द वस्तु को प्राप्त करने के आनन्द से ढक जाता है। हमें प्रोत्साहित किया जाता है कि हम वस्तुओं को न सिर्फ पूरा-पूरा इस्तेमाल करने से पूर्व ही; बल्कि उनके प्रिय बनने और प्रतिदिन का साथी हो जाने से पहले ही फेंक दें। हमें यह कहकर उकसाया जाता है कि हमारी अधिकांश मानसिक, भावात्मक एवं सामाजिक समस्याएँ उचित भौतिक सामानों की कमी के कारण ही पैदा होती हैं।

विज्ञापन हममें गलत कारणों से वस्तुओं की आवश्यकता उत्पन्न करता है। हमारे भय—विशेषतः हमारे सामाजिक भय—अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने तथा प्रतिष्ठा पाने की हमारी भूख, किसी दूसरे को मात देने की हमारी निराशाजन्य खुशी वे भावनाएँ हैं जिनसे लाभ उठाना विज्ञापकों के लिए बहुत आसान है और जोकि अचूक 'परिणाम' दिये बिना नहीं रहतीं। ये हमारी अति परिपक्व भावनाएँ नहीं और न ये हमारी परिपक्वता के लिए हितकर ही हैं। ये सब भावनाएँ किसी हद तक एक अपरिपक्व आत्मकेन्द्रितता की द्योतक हैं। विज्ञापक-गण जिन भयों को अत्यन्त प्रभावोत्पादक तरीकों से काम में लाते हैं वे यौवनोन्मुख भय होते हैं—चाहे उन्हें वयस्क स्त्री-पुरुषों के लिए ही क्यों न काम में लाया जाता हो। उदाहरण के लिए अपने-आपको 'भिन्न' महसूस करने, वर्ग-विशेष के मानदण्ड को पूरे-पूरे रूप में न निबाह सकने, पीछे छोड़ दिए जाने, सुन्दर न बन सकने अथवा अन्य लोगों द्वारा आलोचना किये जाने के ये भय होते हैं।

विज्ञापकों को अपना सूत्र मिल गया है। किसी आदमी को पहले किसी चीज के लिए जरूरतमन्द बनाइए और जब उसकी जरूरत बहुत बढ़ जाय तो आपकी बिक्री जरूर हो जायगी। इसलिए बेचने की कला और विज्ञापन की कला लोगों की अपनी जरूरतों को जगाना है—व्यक्ति को यह अहसास करा देना है कि उसका जीवन अधूरा है और उसे जिस चीज की जरूरत है वह दुकान में रखी है और उस पर उसकी कीमत का लेबिल लगा है। असली उपभोक्ता तो वह व्यक्ति है जिस पर सलाह का असर हो और जिसे आत्मरत होने की प्रक्रिया में निरन्तर व्यस्त रखा जा सके। जैसा कि हम देख चुके हैं, यदि व्यक्ति की उचित परिपक्वता का विकास, अपरिपक्व भय और आत्मकेन्द्रितता से ऊपर उठकर मानवीय हितों और सम्बन्धों की व्यापकता में है तो क्रय के लिए निस्सीम आमन्त्रणों से प्रोत्साहित आत्मरतता हमारी परिपक्वता की प्रगति को निश्चय ही अवरुद्ध करती है।

समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा और विज्ञापन, संचार-संसार के चार प्रमुख

स्तम्भ समझे जा सकते हैं। ये चारों मस्तिष्क को प्रभावित कर रुपया कमाने वाले चार बड़े व्यापार हैं। यह कहना तो अत्यन्त सुखद है कि इनसे मानव-चरित्र को सरस परिपक्वता प्राप्त हुई है किन्तु बात उलटी ही है। इन साधनों द्वारा हमारे विकास में सहयोग मिलने के बावजूद इनमें से हरेक ने अपने सूत्र द्वारा हमारे अन्दर कोई-न-कोई अपरिपक्वता पाई है जिसका फायदा उठाया जा सकता है। फायदा उठाने में ये शक्तिशाली साधन इस संस्पर्श्य के कार्य में इतने लगे हुए हैं कि इन्हें अपने सूत्र के भावी परिणामों के बारे में सोचने का समय नहीं।

अपनी अपरिपक्वता के लिए पूरा दोष इन स्तम्भों के सिर पर मढ़ने से पूर्व हमें तीन निर्णयात्मक बातों की ओर ध्यान देना चाहिए :

पहला यह कि समाचारपत्र, रेडियो-कार्यक्रम, चलच्चित्र और विज्ञापनों के निर्माताओं के रुपया कमाने के कार्य को सांस्कृतिक कार्य नहीं समझना चाहिए। उनके मूल्य अप्रतिनिधिक नहीं प्रतिनिधिक हैं। इन लोगों की प्रतिष्ठा और सफलता की परिभाषाएँ, जिस पर ये जोर देते हैं, ठीक उन्हीं चीजों के लिए हैं जिन्हें पाने के लिए अधिकांश नर-नारी अपने और अपने बच्चों के जीवनों को लगाये रखते हैं। 'स्तब्ध कर देने वाली खबरें', भीषण संकट, प्रवाद और संघर्ष की हमारी भूख, जो अपने लाभ के लिए समाचार-पत्र पूरी करते हैं, समाचारपत्रों की बनाई हुई भूख नहीं होती हालाँकि वे उसे प्रोत्साहित अवश्य करते हैं। ये हमारी संस्कृति की अन्दरूनी बुराइयों से शक्ति प्राप्त करती हैं—क्रान्ति, निराशा और उदासीनता से, जो वयस्कों को जीवन को 'स्तब्ध कर देने वाले नाटक' के अलावा और किसी अन्य नाटक की ओर आकर्षित नहीं होने देतीं। उस अप्रकट शत्रुता से भी वह सशक्त होती है जो वयस्कों को दूसरों के दुर्भाग्य पर झूठा सन्तोष प्राप्त कराती है। उस सभ्यता में जहाँ हर व्यक्ति यह विश्वास करता है कि उसकी नाव पार लगेगी और जहाँ उसकी यह आशा बराबर पूर्ण नहीं हो पाती; जहाँ प्रेम और विवाह को पूर्णिमा की रात्रि और गुलाबों की महक की निरन्तरता का जामा पहने हुए नवयुवक-युवतियों का विषय बनाकर प्रस्तुत किया जाता है,

वहाँ लोगों में स्वभावतः निराशा और दिन में स्वप्न देखने के व्यसन की बहुलता अवश्य होगी। अतः जब हमें इन प्रबल मस्तिष्क-निर्माताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का पूरा अधिकार है—क्योंकि इन्होंने हमारी अपरिपक्वताओं से लाभ उठाया है—तो साथ ही हमें उन अपरिपक्वताओं का कारण भी देखना चाहिए।

दूसरी बात है कि यह मस्तिष्क-निर्माता मानव-हित के लिए इतने भयानक नहीं जितने कि हो सकते थे। संसार में हर जगह और इतिहास के हर काल में मस्तिष्क-निर्माण-कार्य अधिकतर किसी शक्तिशाली दल अथवा कुछ दलों के हाथ में ही रहा है। संसार में किसी स्थान पर और इतिहास के किसी काल में औसत मनुष्य ने कभी भी अपना मार्ग स्वयं निर्धारित नहीं किया है, पुजारियों और अध्यात्मवादियों ने यह कार्य उसके लिए किया है, विजेताओं, डिक्टेटरों और राजनेताओं ने किया है, राजाओं ने किया है। उसके स्वयं के अनुभव ने भी उसे बहुत-कुछ सिखाया है, और हमेशा ही कुछ द्रष्टा, भविष्य वक्ता, गुरु और कूटनीतिज्ञ ऐसे रहे हैं जो उसे यह सोचने के लिए कहते रहे हैं कि वह एक अच्छा मनुष्य है और उसे मानव-परम्परा में गौरव के साथ अपना रचनात्मक पार्ट अदा करना चाहिए। लेकिन सर्वत्र और सदैव बलशाली दल ने यही चाहा है कि औसत मनुष्य अपनी उसी छाया को देखे जिससे उस दल की शक्ति और स्थायित्व कायम रह सके। समाचारपत्रों के मालिक, विज्ञापक आदि जब औसत व्यक्ति में अपने-आपको उस रूप में देखने के लिए तैयार करते हैं जो उनके लिए लाभकारी हो तो वे उन प्राचीन शक्तिशालियों की कला के उत्तराधिकारी दिखाई देते हैं। लेकिन यह अधूरी कहानी है। इतिहास में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सबसे अधिक खतरनाक वे शक्तिशाली व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने यह चाहा कि औसत व्यक्ति *सन्तुष्ट समर्थक बना रहे* : अपने भाग्य में जो बदा है उसे स्वीकार करने वाला तथा अपने नेता की सेवा कर अपनी महत्ता प्राप्त करने वाला हमारे जमाने के इन चार मस्तिष्क-निर्माताओं को औसत आदमी के *सन्तुष्ट समर्थक* होने से कोई मतलब नहीं, वे तो

यह चाहते हैं कि वह अपने *असन्तोष से वस्तुओं की माँग करता रहे*, वे परम्परागत दृष्टि से उसे समर्थक के रूप में नहीं देखते। वे उसे उपभोक्ता के रूप में देखते हैं। यही मूलभूत अन्तर है। इसका मतलब यह हुआ कि हर औसत व्यक्ति के लिए वे वह वस्तु देने को तैयार हैं जिसका वह व्यक्ति मूल्य दे सकता है। उन्होंने पुराना उपयोगकारी नारा बदल दिया है—*अधिकांश व्यक्तियों का अधिकांश कल्याण के स्थान पर अब अधिकांश वस्तुएँ अधिकांश व्यक्तियों के लिए* पढ़ा जाना चाहिए। हो सकता है कि वे अपने अपरिपक्व सूत्रों पर निर्भर रहने के कारण जनता की परिपक्वता में देरी लगाते हैं। लेकिन उनका लक्ष्य रुपया कमाना है नेता बनना नहीं, जिनकी ओर लाखों प्रशंसक श्रद्धा से देखते हों। हमारी सभ्यता में किसी भी प्रभाव से यदि रत्ती-भर भी परिपक्वता आती है तो इन महान मस्तिष्क-निर्माताओं की बनाई हुई वस्तुओं के प्रकार पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती। संक्षेप में, जब हम परिपक्वता चाहेंगे तो यही लोग जिस प्रकार आज अपरिपक्वता के लिए वस्तुएँ बनाते हैं फिर परिपक्व आवश्यकताओं को पूरा करेंगे।

तीसरी बात यह है कि ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा जनता अपरिपक्व माल का परिपक्वतापूर्वक व्यवहार करना सीख सकती है। उदाहरण के लिए, आज हाई-स्कूल हैं जिनमें विद्यार्थी चलचित्रों और रेडियो-कार्यक्रमों की आलोचना के अपने अलग मानदण्ड बनाना सीख रहे हैं और इस प्रकार वे अपनी विभेद-शक्ति को परिपक्व बना रहे हैं। ऐसे हाई-स्कूल और कालिज बढ़ते जा रहे हैं, जहाँ विद्यार्थी विभिन्न समाचारपत्रों और पत्र-पत्रिकाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं और मानदण्डों की कसौटी निर्धारित कर रहे हैं। माता-पिताओं के छोटे-बड़े दल भी हैं, जो सामूहिक रूप से किसी चलचित्र की अच्छाई-बुराई इस धारणा पर निर्धारित करते हैं कि जितनी देर तक बच्चे सिनेमा देखने में घर से बाहर और सड़कों से दूर रहते हैं, चित्र उतना ही अच्छा है। इसी प्रकार माता-पिता के दल संयुक्त रूप से मिलकर इस निर्णय पर पहुँच रहे हैं कि किस प्रकार के रेडियो-कार्यक्रम

विभिन्न आयु के बच्चों को सुनाने चाहिएँ। उपभोक्ता दलों की वृद्धि इस बात का एक और उदाहरण है कि जनता विज्ञापनों के *असली उपभोक्ता* से अधिक परिपक्व बनकर दिखा सकती है। हमारे मस्तिष्क-निर्माताओं से माँग करने के उपाय अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। किन्तु इस प्रारम्भिक अवस्था में भविष्य की आशा है। इनसे यह आशा होती है कि एक ऐसा समय आयेगा जब समाचारपत्र, रेडियो-स्टेशन, चलचित्र-निर्माता और विज्ञापक हमारी परिपक्वता को प्रिय लगने वाले काम करना लाभप्रद समझेंगे।

घर : विकास का एक स्थान

मनुष्य-जाति के लिए इतनी भाग्य-निर्णायक और कोई सामाजिक संस्था नहीं है जितना कि घर। यह वह स्थान है जहां चरित्र का प्रारम्भिक रूप निर्मित किया जाता है। एक अच्छे घर में परिपक्वता की ओर जल्दी प्रगति होती है; बच्चे को सीढ़ी-दर-सीढ़ी विश्वास, चतुराई, स्नेह, उत्तरदायित्व और सूझ-बूझ का शिक्षण मिलता है। एक बुरे घर में परिपक्वता विभिन्न प्रकार से अवरुद्ध होती है—बच्चा उपेक्षित होना पसन्द नहीं करता, कदाचित् इसीलिए वह जीवन में विश्वास के साथ आगे नहीं बढ़ सकता; अथवा वह धमकियों से भयातुर हो जाता है इसीलिए जीवन का वह मुकाबला नहीं कर पाता; अथवा वयस्कों के अनिश्चित स्वभाव के कारण वह घबराहट में रहता है और कुछ भी बोल नहीं पाता; अथवा माता-पिता के बीच ईर्ष्यापूर्ण प्रतिद्वन्द्विता का पात्र बन जाता है; अथवा वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति अन्य बच्चों से इस प्रकार की आक्रामक प्रतिद्वन्द्विता से करता है कि 'शत्रु' शब्द से 'मित्र' शब्द की अपेक्षा अधिक परिचित हो जाता है; अथवा अन्य व्यक्तियों के प्रति उसका व्यवहार उसके बड़ों के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के अनुकरण से बिगड़ जाता है; अथवा बचपन में ही उसे दूसरों से यह धारणा मिलती है कि जीवन का मतलब आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहना है।

यदि घर मनोवैज्ञानिक रूप से सुदृढ़ हो तो हमारी संस्कृति के लिए

यह आशापूर्ण है। यदि वर मनोवैज्ञानिक रूप से सुदृढ़ नहीं हो तो आशा बहुत कम है; क्योंकि उन घरों में जन्म लेने वाले केवल किशोर से वयस्क हो जायँगे, पर अपरिपक्व से परिपक्व न होंगे। इसलिए समस्त वयस्कों पर, जो घरों का निर्माण करते हैं, हमारी संस्कृति और विश्व-संस्कृति के रूप को निर्धारित करने की भारी जिम्मेदारी है।

इसका एक प्रभाव और भी होता है—न सिर्फ यह कि हमारे समाज में घर ही परिपक्वता अथवा अपरिपक्वता का मुख्य निर्माता होता है अपितु समाज हमारे घर की परिपक्वता अथवा अपरिपक्वता का निर्माता होता है; क्योंकि वे वयस्क, जो घर बनाते हैं, न सिर्फ अपने पिछले बचपन से ही बल्कि घर से बाहर की उन संस्थाओं से अभिसन्धित हुए थे जो उन्हें बनाती हैं और उन पर भार रखती हैं। उद्योग, व्यापार, शिक्षा, सरकार तथा धर्म-सम्बन्धी संस्थाएँ यह निश्चित करने में काफी हाथ रखती हैं कि घर किस प्रकार का बने।

अमरीकी घर कोई सनातन और अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं। वह तो हाल ही में विकसित औद्योगिक सभ्यता की हाल की एक उपज है। एक दृष्टि से वह सनातन और अपरिवर्तनशील है। जैसा कि हमारी पश्चिमी सभ्यता में होता आया है, घर वह स्थान है जहाँ बच्चे जन्मते हैं और पलते हैं। इस प्रकार शताब्दियों से वह एक परम्परा का भाग रहा है। फिर भी विशिष्ट रूप से अमरीकी घर अधिकतर कल की औद्योगिक क्रान्ति की उपज है।

मशीन-युग ने अन्य वस्तुओं की भाँति मशीन-युग के घर को भी बनाया है। औद्योगिक काल से पूर्व का घर नहीं बल्कि इस मशीन-युग के आवास को परिपक्व आनन्द का मार्ग ढूँढना होगा।

हमारे समय की परिपक्वता की मुख्य समस्या है कि किस प्रकार घर ऐसा अनुभव प्रदान करे जिससे बचपन से बड़े होने तक निरन्तर मनोवैज्ञानिक विकास होता रहे। हम अच्छी तरह जानते हैं कि इस बात में कौन-कौन-सी कठिनाइयाँ हैं। मशीन ने नगर बनाया है। यहाँ पर्याप्त वैयक्तिकता नहीं

रह सकती और न पर्याप्त शान्ति ही रह सकती है; फिर भी इतनी काफी जगह नहीं होती जहाँ बच्चे बचपने का शोर कर लें और उन पर फटकार न पड़े! बच्चों की परिपक्वता की दृष्टि से ऐसे जरूरत से ज्यादा यान्त्रिक साधन हैं जिनके द्वारा अपने-आप काम हो जाते हैं; ऐसी चीजें कम हैं जिनको बनाने-बिगाड़ने में बच्चे अपनी सूझ-बूझ का उपयोग कर सकें। विभिन्न स्तरों के विकास के लिए अनुकूल साधन बहुत थोड़े हैं और वह भी काम में नहीं लाये जाते। किन्तु वास्तव में उनका पूरा उपयोग सार्वजनिक हित के लिए और बच्चे को पूरे परिवार का एक उपयोगी अंग बनाने में होना चाहिए। ऐसे बहुत कम उगने वाले पेड़-पौधे होते हैं जिनसे बच्चा अच्छी तरह परिचित हो और जिनसे प्राकृतिक विकास का ज्ञान प्राप्त कर सके ऐसे पालतू जानवर भी कम ही होते हैं और बोने तथा उगाने के लिए जगह भी कम होती है।

इसके अलावा मशीन-युग ने शहरों के निर्माण के साथ घर के चारों ओर अपरिचित वातावरण बना दिया है। जहाँ अधिकांश लोग बच्चों के लिए बिलकुल अजनबी होते हैं, जिनकी समस्याएँ वे कभी नहीं समझ सकते और जिनके गुण और सहृदयता की प्रशंसा करने का उन्हें कभी अवसर नहीं मिलता। वहाँ माता-पिता के लिए पड़ोसीपन की साधारण कला तथा भाईचारे की कठिन कला को प्रोत्साहित करना बहुत कठिन है।

खुद घर में ही मशीन-युग ने संदिग्ध महत्व के परिवर्तन किये हैं। एक ओर उसने माँ को एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक शक्ति के रूप में बच्चों के बहुत ही निकट ला दिया है, तो दूसरी ओर उसने बाप को बहुत दूर ले जा रखा है।

आधुनिक घर में माँ बच्चों के प्रथम मासों एवं वर्षों में बहुत ही निकट रहती है। वह लड़खड़ाकर चलने वाले बच्चे को उस समय भी आँख से ओझल होने देना नहीं चाहती जबकि वह सामने की गली तक ही जा सकता है। अपनी अनुपस्थिति में उसके पास नौकर के अलावा और कोई नहीं होता जिसके साथ वह बच्चों को छोड़ सके। इन परिस्थितियों में माँ का

अपने बच्चों के प्रति क्रोध या आवश्यकता से अधिक चिन्ता करना स्वाभाविक है। आवश्यकता से अधिक चिन्ता के पीछे अक्सर एक अबोध एवं अपराध-पूर्ण रोष छिपा रहता है—मां अपने ऊपर बच्चे की निर्भरता में अपनी महत्ता देखती है। और बदले में बच्चों का माँ के प्रति व्यवहार भी प्रायः एक अस्वस्थ परावलम्बन या खुली अथवा छिपी शत्रुता में बदल जाता है, क्योंकि अधिक समय तक परावलम्बन बच्चे के अबोध मन में उसकी आत्मा के लिए घातक बन जाता है।

दूसरी ओर आधुनिक जीवन की आर्थिक आवश्यकताओं से बाध्य होकर पिताओं को दिन का अधिकांश समय घर से बाहर बिताना पड़ता है। इसलिए वे बच्चों से दूर रहते हैं। अपने बच्चों के जीवन में एक निरन्तर शक्ति-स्रोत बनने तथा अपने घर और काम के बारे में आलोचना करके उन पर प्रभाव डालने के बजाय पिता एक अनुपस्थित गृहस्वामी और अतिथि के बीच की-सी चीज हो जाता है। वह परिवार की परवरिश के लिए कमाता है किन्तु ऐसे रहस्यमय जरियों से जिन्हें बच्चा स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाता। वह 'घर का मालिक' होता है, किन्तु अधिकांश निर्णय माँ को ही करने पड़ते हैं, क्योंकि 'दिन के कठोर परिश्रम के बाद' वह किसी झंझट में नहीं पड़ना चाहता। इस प्रकार का 'अधूरा पितापन' बच्चों के लिए अच्छा नहीं होता। इससे बच्चे को नियमानुकूल निर्माण, पौरुष और वयस्कता की छवि आदि मिलना कठिन हो जाता है।

माँ, बाप और इसलिए बच्चे भी एक ऐसे युग के शिकार हैं जिसने अपने कारखाने और दफ्तर यह सोचे बिना बनाये हैं कि उनका घर पर क्या प्रभाव पड़ता है। परिणाम यह है कि आज अधिकांश घरों में बच्चों को वयस्कों—स्त्री-पुरुषों दोनों का प्रश्रयपूर्ण सम्पर्क प्राप्त नहीं होता जोकि बच्चों की परिपक्वता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

एक बात और भी हुई है। बड़े परिवार बहुत कम रह गए हैं। इसका भी परिपक्वता पर भारी प्रभाव पड़ा है। बच्चों की परम्परा चली आई है कि वे अपने समूह की अधीनता द्वारा अपनी असहायता की भावना को

शक्ति की भावना में परिणत कर लेते हैं। हालांकि नेतृत्व वयस्कों के हाथ में ही रहा है फिर भी परम्परा से बालकों की अपनी एक जाति बनी रही है।

छोटे परिवार के परिवर्तित रूप में कई गम्भीर मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपे हैं। परिपक्वता की ओर विकसित होने के लिए आत्मविश्वास का विकास होना आवश्यक है। उसके लिए साथीपन की कला के विकास की भी जरूरत है। उसके लिए अन्य व्यक्तियों को समझने के अनुभव की भी आवश्यकता है—उनके साथ खेलना, काम करना, जरूरत के समय मदद करना और साथ मिलकर योजनाएँ बनाना। एक या दो बच्चों के परिवार में इस प्रकार के विकास की गुंजायश बहुत कम है। बच्चे का प्रयोगात्मक आत्मविश्वास वयस्कों की आवश्यकताओं के ढांचे की अत्यन्त प्रबलता के कारण भी बिखर जाता है। मिलकर काम करने की साथीपन की भावना पिता और पुत्र में नहीं हो सकती। दोनों की उम्र का अन्तर बहुत बड़ा होता है और दोनों के अधिकारों का अन्तर बराबरी के बहाने को झूठा बना देता है। आवश्यकता के समय दूसरों की सहायता करने का माद्दा उन बच्चों में प्रायः नहीं होता, जिनके हमजोली बड़े लोग होते हैं। वह उनकी समस्याओं को उस प्रकार नहीं समझ सकता जैसी कि वह अन्य बच्चों की समस्याओं को समझ सकता है। बड़ों की आवश्यकता के मुकाबले उसकी सहायता बहुत छोटी होती है। बड़ों की चिन्ताएँ, जब वे घर में प्रविष्ट हो जाती हैं तो बच्चों में देखा-देखी इतनी ज्यादा अरक्षा की भावना पैदा कर देती हैं कि खुद बच्चे की भावनाएँ एक समस्या बन जाती हैं और फिर वह एक व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख सकता।

बहुत-कुछ सम्भव है कि जो-कुछ घर पर बीती है उसे ठीक करना हमारी वैयक्तिक शक्ति से परे की बात है। किन्तु मस्तिष्क की परिपक्वता के लिए स्थिति से थोड़ा-बहुत अवगत हो जाना जरूरी है। आज का परिपक्व वयस्क आधुनिक घर को एक चिन्ता की वस्तु मानेगा। वह यह भी चाहेगा कि उसे सुन्दर बनाया जाय और बदला जाय।

इस अपूर्ण संस्था के अन्तर्गत—जोकि बहुत-सी ऐसी सामाजिक एवं

आर्थिक शक्तियों की उपज है जो हमारे वश में नहीं किन्तु बहुत-सी ऐसी चीजें भी हैं जो हमारे वश में हैं। यदि बच्चों को परिपक्व होना है तो जिन मूल सम्पर्कों का हमने उल्लेख किया है, बच्चों में उन सबको विकसित करना पड़ेगा। उनका विकास इस तथ्य पर आधारित होगा कि घर के बड़े स्वयं उन सम्पर्कों को बनाकर आगे बढ़ा रहे हैं। बच्चों को अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ना चाहिए। यदि घर के वयस्क लोग अपनी धारणाओं को बदल नहीं सकते, नई अन्तर्दृष्टियों को तुच्छ समझते हैं या उन्हें सहन नहीं कर सकते, नई बातें सीखने के लिए अत्यन्त हठी या अत्यन्त उदासीन हैं तो वे युवा मस्तिष्कों के विकास के लिए एक स्वस्थ वातावरण पैदा नहीं कर सकते। यह बार-बार कहने की जरूरत नहीं कि बच्चे ज्यादातर देखा-देखी सीखते हैं।

बच्चों को गैर-जिम्मेदारी से उत्तरदायित्व की ओर बढ़ना ही होगा। किसी चीज को कराने के लिए बच्चों से यह कहना कि उन्हें उसे करना ही चाहिए स्वेच्छाचारिता होगी बशर्ते कि कहने वाले स्वयं उसी कार्य को खुद भी करते हों; साथ ही उन्हें वयस्क उत्तरदायित्व का क्षेत्र इतना आकर्षित बना देना चाहिए कि उसे प्राप्त करना बच्चों को अच्छा लगे। इस तथ्य को समझने वाले माता-पिता यह भली भाँति जानते हैं कि घर में ऐसे अनगिनत अवसर होते हैं जो बच्चों को उत्तरदायित्वपूर्ण अनुभव में शरीक होने के लिए आमंत्रित करते हैं। वे माता-पिता के घर को ऐसा स्थान मानते हैं जहाँ हर बच्चा घरेलू काम-धन्धों में सम्मिलित होना पसन्द कर सकता है, जहाँ हर बच्चा शरीर और मस्तिष्क दोनों में विकसित होगा, और जहाँ शिशु-काल की पराधीनता से वह आत्मनिर्भरता, कुशलता और उदार सहयोग की ओर अग्रसर होगा।

बच्चों को मौखिक पृथकत्व से मौखिक संचार की ओर बढ़ना चाहिए। यहाँ पहले माता-पिता की परीक्षा होनी चाहिए, क्योंकि वे ही बच्चों के सर्वाधिक प्रभावशाली साथी और उनके मार्ग-दर्शक हैं। प्रौढ़, जो केवल अन्तिम सत्य और अधिकारपूर्ण आदेश देने के लिए ही मुँह खोलते हैं, बच्चों के लिए अच्छे साथी नहीं हो सकते। और वे बड़े भी, जो मित-

भाषी एवं चिड़चिड़े होते हैं और वे भी जो बेकार की बकवास करते हैं, बच्चों के लिए अच्छे साथी नहीं होते ।

घर एक सदैव-प्राप्य प्रयोगशाला है जहाँ सुचारु एवं सुबोध संचार का विकास हो सकता है । घर के लिए इस काम को निभाना कोई कम बात नहीं है । मनुष्य की मनुष्य के प्रति गलतफहमी के कारण ही बहुत सी बुराइयाँ आती हैं और जीवन का एकाकीपन बढ़ जाता है । अधिकांश घरों में बातचीत ही नहीं होती; सिर्फ गप्प, शिकायत अथवा आज्ञा प्रतिद्वन्द्वात्मक स्वगत भाषण ही होते हैं ।

बच्चों को लैंगिक परिपक्वता की ओर विकसित होना चाहिए । जिस घर में वयस्क लैंगिक सम्बन्धों में परिपक्वता हैं अर्थात् अपने लैंगिक जीवन में रचनात्मक रूप से प्रसन्न हैं, वहाँ उनकी परिपक्वता की ज्योति व्याप्त रहती है । ऐसे घरों में बच्चे लैंगिक ज्ञान प्राप्त करने में आनाकानी नहीं करते और कुज्ञान तथा गलत उत्तेजनाओं से बचे रहते हैं । ये चीजें बहुत से जीवनों को गन्दा और बोझिल बना देती हैं । इन बुराइयों के स्थान पर वे यह समझ सकते हैं कि लैंगिक अनुभव एक अच्छे साथीपन का अंग संयुक्त शारीरिक आनन्द है । संयुक्त व्यक्तित्वों की घोषणा है, एक संयुक्त सृजनात्मक योजना है—और यह सब मिलकर वैवाहिक जीवन को सम्पन्न बनाते हैं ।

बच्चों को स्वभावजन्य आत्मकेन्द्रीयता से निकलकर आगे बढ़ना चाहिए । बच्चा न तो तब तक विकसित होगा और न अपनी क्षुद्र आत्मकेन्द्रीयता का परित्याग कर सकेगा, जब तक उसके माता-पिता स्वयं किसी हद तक इस ओर आगे न बढ़ चुके हों । स्नेह से स्नेह उमड़ता है; परानुभूति से परानुभूति मिलती है । आदर से आदर मिलता है । मानव -सुख में एक बढ़ी हुई दिलचस्पी का माता-पिता से बच्चे की ओर संचार होता है ।

अन्त में बच्चों को एकांगी दर्शन से पूर्ण दर्शन की ओर बढ़ना ही चाहिए । उन्हें दार्शनिक मस्तिष्क की क्रिया सीखनी चाहिए । घर में जीवन को प्रारम्भ से ही बच्चे को चीजों के उनके विस्तृत सम्बन्धों में देखने

में खुशी और शक्ति हासिल करनी चाहिए। किन्तु यहाँ भी पहले की तरह वयस्कों का काम पहले है। क्या वह यह अनुभव करने में परिपक्व है कि वस्तुएँ आपस में किस प्रकार सम्बन्धित हैं? क्या वह प्रत्यक्ष से आगे महत्त्वपूर्ण को देख सकने में समर्थ हैं? क्या वह लोगों और वस्तुओं की अप्रकट विशिष्टताओं को देखने और उनके अर्थों की ओर अपने बच्चों को सजग बनाने में समर्थ हैं? या जिस तरह छँछूदर अपने बिल में बिना दाँएँ-बाँए देखे सीधा घुसता है, उसी प्रकार वह भी जीवन में प्रवेश करता है और मानसिक तथा आर्थिक अन्धकार में घुसा चला जाता है? यदि ऐसा है तो जिस बुद्धि का वह अपने-आपको मालिक समझता है वह उसके बच्चों में तीन चार पीढ़ियों तक मूर्खता सिद्ध होती रहेगी।

घर विकसित होने का स्थान है। इसलिए यह आवश्यक है कि वहाँ वयस्क भी विकसित होते रहें और विकास किस प्रकार हो इसका ज्ञान भी बना रहे। घर एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ माता-पिता मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक विकास का ज्ञान प्राप्त कर सकें और उसे अपने दैनिक जीवन में उतार सकें। अन्त में, घर ऐसा स्थान है जहाँ हम अपनी संस्कृति का पुनर्निर्माण करना आरम्भ कर सकते हैं। यदि हमारी संस्कृति अनुत्तरदायित्व और आत्मकेन्द्रीयता के अहितकर अभ्यासों में पड़ गई है, तो घर ऐसा स्थान है, जहाँ हम उन अभ्यासों को दूर कर सकते हैं। यदि मानवीय आदर्शों के प्रति हमारी संस्कृति उदासीन हो चुकी है तो घर ही ऐसा स्थान है जहाँ इन आदर्शों का पोषण किया जा सकता है और उन्हें घर की छत्र-छाया में विकसित होने दिया जा सकता है। यदि हमारी संस्कृति ने प्रतियोगिता का बेहद बढ़ावा दे रखा है, तो घर ऐसा स्थान है जहाँ सहयोगात्मक कलाओं को शक्ति और आनन्द में परिणत किया जा सकता है।

यहाँ तक कि ऐसे संसार में जहाँ आर्थिक और राजनीतिक शक्तियाँ और अक्सर शैक्षणिक और धार्मिक शक्तियाँ भी भीषण रूप से अपरिपक्व हैं। घर ऐसा स्थान बनाया जा सकता है जहाँ बचपन से ही हम सच्ची परिपक्वता का मार्ग ही नहीं वरन् उसका फल भी जान सकते हैं।

शिक्षा : एक प्रश्नवाचक चिह्न

स्कूल अव्यवस्थित हैं। वे दो काम करने ने लिए बनाये गए हैं : सुसंस्कृति का प्रसार करने तथा बच्चों द्वारा वयस्कता प्राप्त करने के लिए। दूसरे वाक्य में एक शब्द भी बदले बिना हम उसे अपने सबसे बुरे और अच्छे स्कूलों पर प्रयुक्त कर सकते हैं। एक स्कूल विद्यार्थी को सुसंस्कृत तथा उसे बड़ा बनने में मदद कर सकता है और साथ ही उसे पूरा प्रतिक्रियावादी तथा दैनिक कार्यों में ही फँसा रहने वाला बना सकता है। अथवा वह विद्यार्थी को सुसंस्कृति प्रदान कर इस प्रकार वयस्क होने में मदद दे सकता है कि जिससे वह उदार-मस्तिष्क, मानव-भविष्य का सह-निर्माता तथा अनन्य शक्तियों वाला व्यक्ति बने। इसी कारण स्कूलों को इतने भिन्न कार्य करने की अनुमति है और शिक्षा एक चुनौती देने वाली समस्या बन गई है।

बच्चों को परिपक्व होने में मदद करने के दृष्टिकोण से स्कूलों को ऊपर बताये हुए दूसरे प्रकार का होना चाहिए। अक्सर वे ऐसे नहीं होते और इसका कारण भी आश्चर्यजनक नहीं हैं। सार्वजनिक संस्था होने के नाते स्कूल जनता की प्रतिछाया हैं।

पहली बात तो यह है कि स्कूलों का प्रबन्ध स्कूल-बोर्डों द्वारा होता है। इन बोर्डों में औसत दरजे के व्यक्ति होते हैं, जो हमारी सभ्यता की सामान्य व्याख्याओं पर पलकर बड़े होते हैं। वे इस विचार से प्रसन्न नहीं हो सकते कि स्कूलों को प्रयोगात्मक केन्द्रों में बदल दिया जाय अथवा स्कूल ऐसे स्थान बना दिए जायँ, जहाँ बच्चे *यथापूर्व स्थिति* को आलोचनात्मक दृष्टि से देखें। अधिकांश बोर्डों के सदस्य आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक मामलों में निश्चित धारणाएँ रखते हैं। ये धारणाएँ उन्हें न सिर्फ उचित ही लगती हैं, बल्कि वे केवल इन्हीं धारणाओं को उचित समझते हैं, और जबकि वे सम्भवतः परिपक्वता से बहुत दूर हैं। इतिहास की वे सब धारणाएँ जो उनकी धारणाओं से पुरानी हैं उनके लिए असंगत हैं, क्योंकि वे पुरानी होने के कारण अप्रचलित हैं। वे सब धारणाएँ, जो उनकी धारणाओं की समकालीन हैं पर जोकि अन्य संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती

हैं, उनके लिए 'पिछड़ी हुई' हैं। वे सब धारणाएँ जो एक भिन्न भविष्य की ओर देखती हैं—बशर्ते कि ऐसे दुरुस्त आदर्शों की ओर न झुकती हों जिनका अभी समय नहीं आया है—उन लोगों की आदत और प्रतिष्ठा की भावना के लिए खतरा पैदा करने वाली होती हैं और इस प्रकार उन्हें ये मूर्खतापूर्ण या खतरनाक दिखाई पड़ती हैं। पूरी ईमानदारी के साथ वे लोग इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वे स्कूल उनकी ही जैसी धारणा वाले विद्यार्थियों को बनाकर अपना कर्तव्य पूरा करेंगे।

दूसरे, स्कूलों में ऐसे अध्यापक और प्रबन्धक रखे जाते हैं जो अधिकांशत: अपरिपक्व घरों, स्कूलों अथवा कॉलिजों से निकलकर आते हैं। इसके अलावा, ये अध्यापक और प्रबन्धक हम सब लोगों की ही तरह प्रतिदिन और प्रति घण्टे आर्थिक, राजनीतिक, अखबारी तथा अन्य समस्त विभिन्न संस्थाओं से प्रभावित होते रहते हैं जोकि पूर्ण सामाजिक परिपक्वता प्राप्त करने से पूर्व ही अवरुद्ध हो चुकी होती हैं। यह बात कि ये लोग 'शिक्षक' हैं उन्हें उन प्रभावों से वंचित नहीं करती जो बाकी हम सब लोगों को प्रभावित करती रहती है, और न प्रभावों से पूर्ण उनके रूप में कोई आकस्मिक परिवर्तन ला सकती है। अधिकतर वे भी हम लोगों की ही भाँति सांस्कृतिक अभिसन्धान की उपज हैं, और अपने अभिसन्धान के अपरिपक्व अंगों को भी उसी उद्यम और ईमानदारी के साथ छात्रों को देना आरम्भ करते हैं जिस प्रकार कि अपने परिपक्व अंगों को।

विद्यार्थियों को स्वभावत: *सीमाओं के भीतर* रहकर सोचना सिखाया जाता है। औसत शिक्षा का विशिष्ट गुण यह है कि विचार की इन सीमाओं के बारे में चर्चा नहीं की जाती; वे तो *प्रदत्त पाठों* द्वारा निश्चित की जाती हैं। विद्यार्थियों को अपनी पाठ्य पुस्तक और अध्यापकों की कही हुई बातें ही पढ़नी पड़ती हैं। उन्हें ऐसी अन्य वस्तुएँ देखने का मौका नहीं दिया जाता जिनसे उनमें नये सन्देह और उत्सुकता उत्पन्न हों। जब विद्यार्थी अपनी पाठ्य-पुस्तकों तथा अध्यापकों की बताई बातों को काफी जान जाते हैं, तो यह समझ लिया जाता है कि वे जीवन में प्रविष्ट होने के लिए तैयार हैं।

एक संस्कृति की परम्पराओं को आगे बढ़ाने और विद्यार्थी को वयस्क कार्यभारों के लिए तैयार करने का यह भी एक तरीका है—अगर वह कार्य-भार समाज में सिर्फ 'फिट' हो जाना-भर ही है। किन्तु यदि इस वयस्क कार्य-भार की अधिक परिपक्वता से यह कल्पना की जाये कि उसे संस्कृति के सम्मुख रहना है और रचनात्मक रूप से संस्कृति को क्रमशः उन्नत बनाना है तो कहना पड़ेगा कि आज के स्कूल इस कार्य-भार के लिए अच्छी तरह तैयार नहीं हैं। इसकी उचित तैयारी के लिए आरम्भ से एक भिन्न दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। जीवन के प्रति एक खोजपूर्ण तथा सृजनात्मक दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता होगी, जिसकी माँग होगी कि बच्चों में सिर्फ स्वीकार कर लेने अथवा दुहरा लेने का ही नहीं; बल्कि पूछताछ करने की बुद्धि का विकास किया जाय, उनमें आलोचनात्मक मस्तिष्क हो न कि सहज-विश्वास करने वाला निष्क्रिय मस्तिष्क।

बढ़ा-चढ़ाकर कहने की मेरी इच्छा नहीं है। अमरीका के स्कूलों में कक्षा का कार्यक्रम बच्चों के मस्तिष्क को प्रोत्साहन देने में इतना ईमानदारी से लगा है कि उपर्युक्त आलोचना अनुचित लग सकती है। यह फिर कहा जा सकता है कि सीमाओं के भीतर मस्तिष्कों को चलाया जाता है। एक निश्चित नियम के अनुसार ही पढ़ते-लिखते, हिज्जे करते, जोड़, बाकी, गुणा और भाग निकालते तथा भूगोल, इतिहास और विज्ञान के तथ्यों को वे सीखते हैं। वे अर्थनीति, राजनीति, नागरिक-शास्त्र और अपने शरीर के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं। औसत स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली ये सब बातें लाभप्रद हैं किन्तु अन्त में वे वयस्क कार्य-भारों को स्वीकार करने के लिए मस्तिष्क को परिपक्व, निर्माता तथा उत्तरदायी बनाने में समर्थ नहीं होतीं।

मस्तिष्क का निर्माण बचपन से शुरू होकर किशोरावस्था तक किया जा सकता है। इसके लिए हमें सिर्फ यह स्वीकार कर लेना आवश्यक है कि मस्तिष्क तभी काम कर सकता है जब वह अपने-आप स्वतन्त्र रूप से चीजों को देखे और स्वतन्त्र परिणामों पर पहुँचे। यह ज्ञान कि दो और दो मिलाकर चार होते हैं, वास्तव में मस्तिष्क से कोई काम नहीं कराता; बल्कि मस्तिष्क

की तत्पर सेविका स्मरण-शक्ति से ही सम्बन्धित है। जिसे हम अधिकांश शिक्षा कहते हैं वह मुख्यत: स्मरण-शक्ति की ही अनुसूनी है। एक मस्तिष्क बनाने का अर्थ है उसके सामने हल की जाने वाली समस्याओं को ला रखना, उसके द्वारा प्रासंगिक तथ्यों को ढूँढ़ना, हर तथ्य को तोलना, फिर किसी परिणाम पर पहुँचना और फिर उस परिणाम को भी जाँचना।

यहाँ असली चीज मस्तिष्क की ठीक आदतें बनाना है। अनालोचनात्मक अन्धविश्वास के साथ, जो कुछ पाठ्य-पुस्तक और अध्यापक कहता है, उसे स्वीकार कर लेने की आदत एक ऐसे चरित्र का निर्माण करती है जो पराधीनता और अन्धविश्वास बरतने में कुशल होता है। दूसरी ओर खुद तथ्यों को खोजना, उनकी छानबीन करना और सावधानी से—यहाँ तक कि प्रार्थना करके भी—परिणाम पर पहुँचना ऐसे चरित्र का निर्माण करता है जो जीवन की पेचीदगी, ईमानदारी और आत्मविश्वास से तथ्यों की खोज करता है, और अन्धविश्वासी नहीं है। पहली बात एक पराधीन बच्चे की अपरिपक्वता का प्रदर्शन करती है तो दूसरी एक आत्मनिर्भर वयस्क मस्तिष्क की परिपक्वता का।

जब तक मस्तिष्कों को सोचना न सिखाया जाय, सोचने के लिए पूरा प्रोत्साहन न दिया जाय तब तक परिपक्व चरित्र-गठन का बनना सम्भव नहीं।

अतः स्कूलों के लिए विचार को उत्तेजित करना मूल रूप से आवश्यक है। लेकिन कुछ आवश्यक वस्तुएँ साथ ही और होनी चाहिएँ, विशेषकर निम्नलिखित तीन :

प्रथम, स्कूल इस स्थिति में होते हैं कि वे विद्यार्थियों के अन्दर सहयोग की अपरिहार्य आदत बनाने में सहायक हों। स्कूल स्वयं में व्याप्त संस्कृति से परे प्रगति नहीं कर सकते। किन्तु आखिर उस संस्कृति में दर्शन और अभ्यास के दो बड़े प्रयत्न हैं : प्रतिस्पर्धात्मक और सहयोगात्मक। अपने विद्यार्थियों में और अन्त में उनकी संस्कृति में एक नई परिपक्वता लाने के लिए स्कूलों को सहयोग के सांस्कृतिक प्रयत्न पर जोर देना चाहिए, जिसकी

उन्होंने अभी तक अधिकतर उपेक्षा की है।

दूसरे, स्कूल बच्चों में नागरिक आभारों की भावना जाग्रत कर सकते हैं। बड़ों की भाँति बच्चे भी घर, स्कूल तथा उस गाँव या नगर—जिसमें कि स्कूल होता है—के एक समाज में रहते हैं। इस समाज में जो कुछ भी आपसी सम्बन्ध होते हैं उनके बारे में सोचने के लिए बच्चों को सहायता दी जानी चाहिए, साथ ही इन सम्बन्धों को परिपूर्ण करने में जो समस्याएँ उठें उनके हल करने के लिए उन्हें आत्मसंगठित संस्थाओं का निर्माण करना सीखना चाहिए। उनका स्कूल जिस बृहद् समाज का अंग है, उस समाज के प्रति अपने कर्तव्य-पालन की ओर सजग होने में भी उनको मदद देनी चाहिए। नागरिक परिपक्वता जादू से नहीं नागरिक अनुभव से आती है। स्कूलों का एक खास काम इस अनुभव को प्राप्त करने के अवसर प्रदान करना है।

अन्त में, स्कूल जीवन के प्रति नवयुवकों में सृजनात्मक प्रवृत्ति कायम करने में सहायक हो सकते हैं। परिपक्वता की ओर विकास का मार्ग स्वयंचलित एवं अनुकरणात्मक मार्ग से भिन्न है। एक परिपक्व व्यक्ति वह है जो अपनी ही आँखों से देखता है, अपने ही दिमाग से सोचता है और अपनी ही सूझ-बूझ से और अपने मापदण्ड से निर्माण-कार्य करता है।

कुछ वर्षों से स्कूलों को ऐसा स्थान माना जाने लगा है कि जहाँ बच्चों की सृजनात्मक शक्तियों के विकसित होने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। आज हमारे बहुत से सर्वोत्तम स्कूलों में बच्चों में निहित सम्भावनाओं को समझने की एक नई उदार भावना जाग्रत हो रही है।

हम समझने लगे हैं कि रटकर पढ़ने वाले बच्चे आगे चलकर केवल नियमों के दायरे में बँधी हुई वयस्कता को ही प्राप्त करते हैं। उन्हें मानवीय शक्ति और रसों के समस्त क्षेत्रों का कोई ज्ञान नहीं होता। वे अपने-आप सुख प्राप्त करना नहीं जानते। वे बनी-बनाई वस्तुओं पर आधारित रहते हैं। अपने भद्दे ज्ञान से वे सौन्दर्य और महत्त्व की रचना करते हैं। यदि अधिकांश वयस्कों को 'मन्दबुद्धि' कहा जा सकता है तो उसका कारण यह

है कि पहले अधिकांश स्कूल अपने विद्यार्थियों के सामने मानव सराहना और रचना के विचित्र साधनों को लाने में असफल रहे हैं।

धार्मिक परिपक्वता की ओर

गत् चौथी और पाँचवीं शताब्दी में एक मनोवैज्ञानिक संघर्ष छिड़ा हुआ था। उसका विषय आधुनिक शब्दों में उपार्जित आत्मिक गुणों का उत्तराधिकार था। विशेषतः प्रश्न यह था कि इच्छा-शक्ति का दुराचरण जो पूर्वज में वयस्क होने पर जाहिर होता था, क्या वह युगों तक निरन्तर बच्चों को उत्तराधिकार में मिलता रहेगा?

वाद विवाद में भाग लेने वालों में से पैलेगियस ने नकारात्मक पक्ष लिया। उसके विचार के अनुसार आदम की अवज्ञा की इच्छा शुरू होते ही समाप्त हो गई, क्योंकि एक क्षणिक प्रलोभन में आकर उसने दुर्व्यवहार किया। अतः पैलेगियस का तर्क था कि कोई कारण नहीं कि तब से हर बच्चा इस अवज्ञा की इच्छा को उत्तराधिकार में प्राप्त करता आया है। उसने कहा कि संसार का हर बच्चा अपना जीवन अपनी शक्तियों के उपकरणों के साथ आरम्भ करता है और अपने साथ किसी पूर्वज के दुराचरण का बोझ नहीं ढोता। इसके विपरीत आगस्टाइन ने कहा कि आदम के अवज्ञा के कार्य ने मानसिक उत्तराधिकार की एक लम्बी शृङ्खला चला दी है। उसके बाद से हर बच्चा अवज्ञा के कार्य द्वारा प्रारम्भित उस दुराचरण से अभिशप्त रहा। संक्षेप में आदम का मूल पाप विश्वव्यापी हो गया और जिससे पाप करने की प्रवृत्ति सर्वत्र फैल गई। इस प्रवृत्ति से व्यक्ति को ईश्वर ही बचा सकता है। इस जीव-विद्या-सम्बन्धी एवं मनोवैज्ञानिक तर्क में आगस्टाइन की जीत इसलिए नहीं हुई कि उस पर वैज्ञानिक मस्तिष्कों की एक सक्षम समिति ने निर्णय दिया था; बल्कि मुख्यतः इसलिए कि चर्च के पादरियों की सभा को प्रभावित करने की उसमें शक्ति थी।

यदि वही प्रश्न आज उठा होता तो निस्सन्देह सर्वथा दूसरे ढंग से उस पर विचार किया गया होता। सबसे पहले 'पूर्वज' कहा जाने वाला आदम मनुष्य नहीं माना जाता अपितु सम्भवः एक आरम्भिक जीवपेशियों

का ढाँचा माना जाता। दूसरे, सबसे पहले हम तथ्यपूर्ण प्रमाण को देखते। इस प्रकार नये सिरे से आरम्भ कर हम भली प्रकार इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य संसार में अपने पूर्वजों के तथा उनके द्वारा किए गए भौतिक व मनोवैज्ञानिक पद-चिह्नों को ही लेकर नहीं आता अपितु निजी शक्तियों को भी साथ लेकर आता है। कोई भी मनुष्य जीव-वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक रिक्तता लिये अपनी जीवन आरम्भ नहीं करता। इसके विपरीत दूसरी ओर प्राप्य प्रमाणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कोई भी आदमी बुराई द्वारा इतने अधिक प्रताड़ित रूप में अपना जीवन आरम्भ नहीं करता कि उसे अच्छाई और पूर्णता की ओर अपनी शक्तियों को लगाने का अवसर ही न मिलता हो। इस प्रकार 'अवज्ञा की इच्छा' केवल एक उस असहाय प्राणी, जो उचित स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है तथा उस परिस्थिति, जिसे बच्चा अपनी अपरिपक्क अवस्था में न समझ सकता है और न उस पर अधिकार कर सकता है, के बीच अवश्यभावी संघर्ष की अभिव्यक्ति है।

इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि उस समय जबकि परिपक्कता की विति ने अपने स्पष्टीकरण करने वाले प्रभाव को डालना शुरू नहीं किया था, मनुष्य मनुष्य को गलत समझता था। वह युग, जो उस समथ मनोवैज्ञानिक अन्धकार में था, मनुष्य की अच्छाई की ओर बढ़ने की स्वाभाविक शक्ति के कठिन दृष्टिकोण को स्वीकार करने की बजाय मनुष्य की बुराई की स्वभावगत भावना का आसान व प्रत्यक्ष दृष्टिकोण स्वीकार करने के लिए अधिक तैयार था।

धर्म यदि मानव-जीवन की पुरानी व्याख्याओं से केवल इसलिए चिपकता है कि उसने इनका प्रतिष्ठित संस्थाओं व कार्यों में निर्माण किया है तो उसका बुरा प्रभाव होता है। जहाँ हमारी ही प्रकृति के समान पेचीदा और अपर्याप्त रूप से ज्ञात वस्तु पर विचार किया जाता है वहाँ नई खोजों व उलझनों के प्रति निरन्तर सतर्कता की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य यथार्थ में एक मतिष्क जान पड़ता है, जो अपने पूर्व ज्ञान से अधिक ज्ञान की ओर

उन्मुख है। आज हम अपने अन्दर वे चीजें खोज पा रहे हैं जिनके विषय में अब तक सन्देह भी नहीं किया गया था।

यदि हम नये ढंग से जीवन के धार्मिक रूप का वर्णन करें तो हमें बचपन से वयस्क होने, अपरिपक्व से परिपक्व होने तथा आत्मकेन्द्रीयता से संसार के साथ सामाजिक केन्द्रीयता के सम्बन्धों के विचार को मानकर आगे बढ़ना होगा।

धर्म में हम एक प्राचीन और निरन्तर अनिर्णायक भाव से पीड़ित रहते हैं। यह विवाद आज भी चला आता है कि धर्म के अंग्रेजी पयार्यवाची शब्द 'रिलीजन' की उत्पत्ति 'टेबू' (निषिद्ध वस्तु) नामक शब्द से है अथवा एक अन्य शब्द से, जिसका अर्थ दो वस्तुओं को मिला देना होता है। यदि पहली बात भी मान ली जाय तो धर्म सिर्फ किसी शक्ति द्वारा निषिद्ध बताई हुई बात को न करने में ही नहीं है। इस प्रकार का धर्म शासक और शासित, दास और स्वामी, माता-पिता पर आश्रित और आज्ञाकारी बच्चे के सम्बन्धों को स्वीकार किए जाने पर जोर देता है। इस प्रकार का धर्म आज्ञा देने और लेने द्वारा चलता है; वह विनीत भाव को अच्छा समझता है और अच्छे आचरण के लिए वह पुरस्कार तो देता है, लेकिन अधिक स्वतन्त्रता नहीं। निषिद्ध वस्तु और निषिद्ध वस्तु के निर्माता के प्रति भय पैदा करना ही ऐसे धर्म की मूल प्रेरणा है।

इसके विपरीत धर्म का दूसरा अर्थ है—दो वस्तुओं को आपस में मिला देना। इसका मतलब हुआ कि एक तो हर व्यक्ति को बचपन की आत्म-केन्द्रीयता से ऊपर उठकर दूसरों की आवश्यकताओं में सक्रिय तथा स्नेह-पूर्ण दिलचस्पी रखनी चाहिए; और दूसरे, संसार के प्रचलित सफलता और शक्ति हासिल करने के तरीकों को अपना न समझ लेना चाहिए। ईसा ने ऐसे ही धर्म का प्रचार करते हुए इन अति सीधे-सादे शब्दों में कहा था—"एक दूसरे से प्रेम करो।"

आपसी बन्धन के अर्थ में धर्म जीवन से परिपक्व सम्बन्ध रखने को आमन्त्रित करता है और इस प्रकार उस सम्बन्ध की ओर से अपनी सम्भाव्य

शक्तियों के परिपक्व विकास को भी आमन्त्रित करता है। अतः इस अर्थ में धार्मिक जीवन वह है जिसमें अपने-आपको विश्व के समस्त जीवन देने वाले आन्दोलनों से सुख-दुख में बाँधने का निरन्तर प्रयत्न रहे। संक्षेप में धार्मिक जीवन वही है जिसे हम परिपक्व जीवन कहते आए हैं। यह वह परिपक्व जीवन है जो गहराई के साथ पूर्णता की खोज में संलग्न है।

अतः आज धर्म और मनोविज्ञान हाथ-में-हाथ डालकर खड़े हो सकते हैं। जब धर्म परिपक्व होगा तो उसका लक्ष्य मनुष्य की परिपक्वता होगा और इसी प्रकार जब मनोविज्ञान परिपक्व होगा तो उसका लक्ष्य भी मनुष्य की परिपक्वता होगा।

जब युवराज बुद्ध अपने साथी मनुष्यों के कष्टों को देखकर दुखित हुए तो उन्हें एक अभूतपूर्व कार्य कर डालने की प्रेरणा मिली। उन्होंने मनुष्य के कष्टों के कारणों को खोजना शुरू किया। सामान्यतः इस अन्वेषण के सम्बन्ध में विचित्र कथाएँ कही जाती हैं। लेकिन बुद्ध के लिए वह एक प्रखर मस्तिष्क द्वारा मानव-अनुभूति के इस रहस्यमयी कलंक के उद्‌गम की खोज-मात्र थी—वह कलंक जिसे प्रत्यक्षतः अमिट दुख कहा जाता है।

बुद्ध के समय में कोई यह न जानता था कि ऐसे अन्वेषण के लिए किस प्रकार के आयोजन की आवश्यकता है। उस जमाने में साधु-सन्त वस्तुओं के बारे में सोचते थे और बात करते थे लेकिन सब अन्तःकरण से। हर मनोवैज्ञानिक समस्या को ध्यान-मग्न होकर ही सोचा जाता था।

बुद्ध को अपने-आप पर ही परीक्षण करने पड़े। वह मनुष्यों को उनके समस्त सम्बन्धों में ध्यानपूर्वक देखते हुए घूमते फिरे और उनके दुखों के पकड़ में आने वाले कारणों को जानने का प्रयत्न करते रहे।

कुछ समय बाद उन्होंने यह निर्णयात्मक आविष्कार किया : मनुष्य इसलिए दुखी हैं क्योंकि वे वस्तुओं की कामना करते हैं और कामना पूर्ण रूप से कभी पूरी नहीं हो सकती। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य में इच्छा ही समस्त दुखों का कारण है। इसके बाद वह अपने परीक्षण और पर्यवेक्षण में आगे बढ़े। क्या इच्छा का अन्त किया जा सकता है? जिन्होंने

इसे अपने-आप ही आजमाया और स्वयं परीक्षण के नियन्ता बन गए।

एक ऐसे सत्य की खोज में, जो पकड़ में न आता था, साहसपूर्वक अनवरत लगे रहने के कारण बुद्ध का जीवन उन्नत हुआ और इच्छा को निर्मूल करने में उन्होंने कुछ ध्यान देने योग्य सत्यों को मालूम किया। क्योंकि बुद्ध का इच्छा-परित्याग का मार्ग अपरिपक्व आत्मकेन्द्रीयता को दूर कर देना था, अतः उनका *अष्ट-मार्ग* एक महान मनोवैज्ञानिक लेख्य है, जो इस बात का साक्षी है कि जीवन की पूर्णता अहंमान्यता के मिथ्या सन्तोष को छोड़कर समस्त जीवों से सम्बन्ध रखने के आत्मिक सन्तोष की ओर बढ़ने में है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् लक्ष्य, सम्यक् चरित, सम्यक् वाचा, सम्यक् जीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक ध्यान ये अष्ट-मार्ग हैं।

बुद्ध ने कहा है, "जब एक मनुष्य समस्त जीवों पर दया करता है तो वह श्रेष्ठ हो जाता है।" इस कथन में नजारेथ ईसा की भाँति परिपक्व अन्तर्दृष्टि है।

आज हम धर्म के प्रति अनवहित हैं, क्योंकि एक अपराध की भावना के साथ हम यह देखते हैं कि जिसे हमें मिलाना चाहिए था उसने हमें अलग कर दिया है और वे संस्थाएँ जिन्हें हमको शक्ति और सफलता के साधारण मानदण्डों द्वारा अप्रभावित रहने में सहायता देनी चाहिए थी उन्होंने स्वयं अप्रकट रूप से उन मानदण्डों को आत्मसमर्पण कर दिया है। स्वयं उन स्तरों के प्रति अपनी अपराधी धार्मिक भावना के साथ हम भेद-भाव को जीतना चाहते हैं। हम विश्व-धर्म-सम्मेलन तथा अन्तर-धर्म-सभाएँ करते हैं।

अधिकतर पूरी ईमानदारी होते हुए भी मेल करने के यह प्रयत्न असफल रहते हैं और इस असफलता का कारण भी समझ में आता है। वे समस्त समकालीन धर्मों में एक समान रूप से मिलने वाली चीज की खोज करते हैं। लेकिन धर्मों के बीच ऐसी समान चीज पाना जो एक ओर मनुष्य की प्रतिष्ठा कायम रखे और मनुष्य के प्रति प्रेम बढ़ावे, और दूसरी ओर मनुष्य को सदैव ही बच्चा बना रहने दे, देवताओं को दास

बना दे और उन लोगों से घृणा करे जो नास्तिक हैं, एक ऐसी थोथी चीज पाना है जिसमें जीवन-शक्ति नाम-मात्र को भी नहीं हो सकती।

महत्त्वपूर्ण एकता सिर्फ उन्हीं *धर्मों के बीच हो सकती है जो मनुष्य की परिपक्वता को जीवन का केन्द्रीय लक्ष्य मानते हैं।* वे धर्म, जो-चाहे कितनी ही पाखण्डतापूर्वक मनुष्यों की पारस्परिक शत्रुता को प्रोत्साहित करते हैं, कभी भी सही अर्थ में 'एक' नहीं हो सकते क्योंकि में वे स्वयं ही एकता के प्रेरक नहीं हैं। तलवार के जोर पर आधारित धर्म और वे धर्म, जो सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर पर मनुष्य को स्थायी रूप से बच्चों की भाँति अवलम्बित रखने का आग्रह करते हैं, मनुष्य को स्वभावगत प्रतिष्ठा पाने का अधिकारी नहीं समझ सकते। अतः वे मनुष्य को जीवन को परिपक्व पूर्णता की ओर विकसित होने की प्रेरणा नहीं दे सकते।

विभिन्न संस्कृतियों की उपज होने के कारण धर्म स्वभावतः रूप और प्रकार में, परम्परागत प्रतीकों और रीति रिवाज में, सत्य का निरूपण करने में, वेशभूषा, उपकरण और स्थापत्य में भिन्न होते हैं। ये वस्तुएँ गौण हैं। इनके लिए हम वही सौजन्य बरत सकते हैं -जो विदेश में जाकर एक घर में प्रवेश करते समय हम दिखाते हैं। उस मकान की मेज-कुरसियाँ भिन्न होती है, तौर-तरीके और भाषा भिन्न होती है लेकिन मूल सहृदयता में वे, जो विदेशी मकानों में रहते हैं और अपनी आशाएँ, आदतें और अपने चारों ओर स्नेह के सम्बन्ध बनाते हैं, हमारी ही तरह के मनुष्य होते हैं। हम मनुष्य होने के नाते उनकी इज्जत कर सकते हैं।

धर्मों के साथ भी यही बात लागू होती है। ऊपरी रूप का अन्तर वास्तव में कोई असली अन्तर नहीं, यदि हर धर्म के हृदय में यह विश्वास हो कि मनुष्य एक प्रतिष्ठित जीव है जिसे विकसित होकर परिपक्व व्यक्ति बनना है। हम इस प्रकार का विश्वास करने वाले किसी भी धर्म के साथ खुशी से रह सकते हैं। ऐसे धर्म के अलावा किसी और के साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं रह सकते।

तो यह है वह सारभूत वस्तु जिसे हमें खोजना है—धर्मों का लघुतम

सम.पवर्त्य नहीं, बल्कि महत्तम समापवर्त्य। महत्तम प्रेम वह सिद्धान्त है जो मनुष्यों को एक करता है और वह शक्ति है जो मनुष्य को उसके मस्तिष्क और भावना के बालपन से निकालकर एक सुखद एवं उत्तरदायी परिपक्वता प्रदान करती है।

हम स्वयं क्या कर सकते हैं? मानवीय स्थिति, जिसका हमने पिछले अध्याय में विश्लेषण किया है, और इस स्थिति से बाहर निकलने के लिए परिपक्वता की ओर विकसित होने का मार्ग देखने के बाद अब हमारे-अपने बारे में सवाल पैदा होता है? हम कहाँ से प्रारम्भ करते हैं? हम क्या करते हैं?

स्पष्टत: हमारे मानव-भाग्य की गुत्थी अन्त में हमारे व्यक्तिगत अस्तित्व पर आ पहुँचती है। अपनी संस्कृति की संस्थाओं और रीति-रिवाजों से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी, जोकि हमारे जन्म से पूर्व भी मौजूद थे, हम सब में उपक्रमण-शक्ति की कुछ मात्रा बनी रहती है। छोटे अथवा बड़े रूप में हम अपरिपक्वता के बजाय परिपक्वता के द्वारा कार्य कर सकते हैं। आज हमारे परिपक्व कृत्यों का योग हम सब के लिए विनाश की ओर जाते हुए संसार तथा सृजनात्मक पूर्णता के बीच का अन्तर निर्धारित कर सकता है।

हम व्यक्तिगत हैसियत से क्या कर सकते हैं?

प्रथम, व्यक्तिगत जीवन के लिए हम उच्च प्रत्याशाएँ निर्मित कर उन्हें कायम रखने में सहायता दे सकते हैं। स्वयं परिपक्व होने अथवा दूसरों को परिपक्व होने पर जोर देने का कोई अर्थ नहीं, यदि हम यह अनुभव करते हैं कि बचपन से वयस्क होने में हम उल्टी ओर जा रहे हैं। हमें अपने लिए वयस्कत्व का नया तथा अधिक आकर्षक रूप निर्माण करने की आवश्यकता है।

विलियम शैल्डन ने बहुत से वयस्कों के 'मस्तिष्कों का' बड़ी उम्र में "दुबारा मृत होने" का विशद वर्णन किया है: "जीवन-ज्ञान, साहसी दर्शन प्रातःकालीन स्वप्न तथा योजनाएँ बनाने में जवानी के दिन बीतते हैं किन्तु

चालीस की उम्र में मानव-मस्तिष्क असभ्य, अपने ही में प्रसन्न, शिथिल तथा अपना समय बर्बाद करने वाला हो जाता है। वयस्क मस्तिष्क हर जगह पाला मारे हुए पेड़ की भाँति नज़र आता है। जिसकी ऊपरी टहनियाँ मर चुकीं हैं किन्तु नीचे तने की ओर जीवन की हरियाली संघर्ष करती हुई दिखाई देती है।"[1]

'असभ्य, अपने ही में प्रसन्न, पाला मारा हुआ' प्रौढ़ावस्था का यह चित्र प्रेरणादायक नहीं। न यह चित्र किसी नवयुवक को बुड्ढे के प्रति ईर्ष्या करा सकता है ताकि वह वयस्क होने के लिए लालायित हो। क्या यही है वयस्क होना? क्या हमें वयस्क-जीवन की एक नई तस्वीर ऐसी नहीं बनानी चाहिए जो महानतर से महानतम निर्माण-कार्य करने का सन्तोष का एक साधन हो।

लेकिन हम यह नई तस्वीर शून्य में नहीं बना सकते। इस तस्वीर को बनाने में हमें उन प्रक्रियाओं और शक्तियों का ध्यान रखना होगा जिनके साथ हमें कार्य करना है। ये प्रक्रियाएँ और शक्तियाँ परिपक्वता की सम्पर्क वित्ति से स्पष्ट हो जाती है, जिनकी अभी तक हम मीमांसा करने आए हैं।

यह शुभ समाचार है कि हमारा जीवन सुख और शक्ति में बढ़ सकता है यदि हम उसे रचनात्मक रूप में अपने निजी जीवन से परे लगाये रहें, जिसके साधन हैं—उत्तरदायित्व, शब्दों की सुस्पष्टता, इच्छित ज्ञान, सुन्दरता, परानुभूतिपूर्ण भावना, लैंगिक आकलन और दार्शनिक ज्ञान। यह भी खुशी की बात है कि वयस्क नीरसता के लिए कोई बँधा मार्ग तय नहीं है। 'और न मस्तिष्क का दुबारा मृत हो जाना' ही तय है।

यदि वयस्क-मस्तिष्क दुबारा मृत हो जाता है और वयस्क-जीवन बेकार और निराशाजनक होता है, तो अब हम इसका कारण उन परिस्थितियों में पाते हैं जोकि जीवन के सम्पर्कों का विकास रोक देती हैं। अब हम यह

---

१. विलयम ऐच० शेल्डन, सायकोलोजी एण्ड दि प्रोमेथियन विल, पृष्ठ ३। न्यूयार्क, हार्पर एण्ड ब्रदर्ज।

जानते हैं कि इनमें बहुत सी परिस्थितियों को बनाये रखना जरूरी नहीं। यदि घर, स्कूल, चर्च, व्यापार, राजनीति अथवा जहाँ कहीं भी उनका अस्तित्व ही हो तो हम उन्हें बदल सकते हैं। संक्षेप में, हम ऐसी अनुकूल स्थिति पैदा कर सकते हैं जैसी पहले कभी नहीं हुई, जिससे परिपक्वता की ओर जीवन का विकास सफलता और परिपूर्णता प्राप्त कर सके।

हमें सबसे पहले यह समझना जरूरी है कि जीवन में हर स्थिति परिपक्व अथवा अपरिपक्व प्रतिक्रिया—दोनों ही के लिए अवसर देती है। हमें विशिष्ट अवसरों की प्रतीक्षा में नहीं रहना पड़ता।

उदाहरण के लिए परिवार का एक व्यक्ति एक भूल करता है। यह अवसर नाराजी और फटकार के लिए हो सकता है; निर्दयतापूर्वक हँसी-मज़ाक के लिए भी अथवा एक साथ उस व्यक्ति को हटाकर स्वयं वह कार्य कर डालने काभी हो सकता है अथवा यह अवसर यह मान लेने के लिए होता है कि मनुष्य से भूलें हो सकती हैं और इस प्रकार मामले को वहीं-का-वहीं छोड़ देने के लिए भी हो सकता है। परिपक्व अथवा अपरिपक्व उत्तर के लिए अवसर तब आता है जब परिवार का एक किशोर सदस्य ऐसे विचार घर में लाता है जो उस परिवार में प्रचलित नहीं हैं। यह घटना आगे ऐसे कई अवसर ले आ सकती है जब बड़े लोग उस मत को अस्वीकार करें उस मत का बेहूदापन अथवा खतरा जाहिर करें, किशोर को यह ताकीद कर दें कि वह अनुभवहीन है और उसे उन्हीं की तरह विकसित होने की आवश्यकता है; अथवा यह भी हो सकता है कि परिवार के बड़े-बूढ़े उस किशोर को अपना विचार व्यक्त करने का अवसर दें, उसकी बात ईमानदारी और दिलचस्पी में सुनें, यदि कोई सन्देह हो तो सवाल पूछें किन्तु इस रूप में कहें कि किशोर यह समझे कि वह भी विचार करने के लिए स्वतन्त्र है।

यह इतनी छोटी बातें हैं कि परिपक्वता और जीवन के अस्तित्व पर एक गम्भीर निबन्ध लिखते समय ध्यान देने योग्य नहीं हैं किन्तु इसी प्रकार की छोटी चीजों से ही हमारे घरों में परिपक्व अथवा अपरिपक्व वातावरण का निर्माण होता है। ऐडना सेंट विनसेंट मिले एक गुजरे हुए प्रेम के बारे

में कहा है, जिसके गुजरने का खास तौर पर कोई कारण नजर न आता था :

प्रेम के जाने से मेरे दिन आहत न हुए,
किन्तु वह निम्न रूप में चला गया।[1]

प्रतिक्रियाओं की छोटी-छोटी अपरिपक्वताओं से दिन-प्रति-दिन स्थित ऐसी विषम होती जाती है कि घरेलू जीवन में बहुधा भीषण अपरिपक्वता घर कर लेती है।

हर संगठन परिपक्व और अपरिपक्व प्रतिक्रियाओं के लिए अवसर प्रदान करता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति एक पद के लिए खड़ा होता है और चुना नहीं जाता। क्या वह काम छोड़ देता है? उदासीन हो जाता है? विजयी के विरुद्ध गन्दी बातें बनाता है? अन्याय का दावा करता है? एक व्यक्ति कई वर्ष तक उच्च पद पर रहा किन्तु अब पीछे रह गया। क्या वह सम्मानपूर्ण तथा उदारतापूर्वक अपनी हार स्वीकार करता है और जब तक कि उससे मदद की याचना नहीं की जाती तब तक वह अलग रहता है और फिर सद्भावना के साथ मदद देता है? इसके अलावा अपरिपक्व और परिपक्व चरित्रों को खोलकर दिखाने के लिए मनोविज्ञान के देवता सदैव सतर्क रहते हैं।

सामाजिक जीवन में अनेकों अवसर ऐसे आते हैं जब हम अपनी परीक्षा कर सकते हैं। एक ऐसा व्यक्ति ही लीजिए जो एक अल्पसंख्यक दल के बारे में कुछ प्रवादपूर्ण रिपोर्ट देता है। क्या सुनने वाले सामान्य रूप से उस प्रवाद का आनन्द लेते हैं, अथवा कोई ऐसा भी होता है जो चुपके से यह पूछे कि उसे यह खबर कहाँ से मिली है? पक्षपात, शत्रुता, क्षुद्रता, अत्याचार आदि बातें प्रतिदिन हमें दूसरों से बातचीत करते समय बड़ा भारी पार्ट अदा करती हैं। वे परिपक्वता को 'ईश्वर का साक्षी' बनने का अवसर देती हैं।

---

१. 'दि हार्प वीवर एण्ड अदर पोइम्स' में 'वसन्त और पतझड़' कविता से। प्रकाशित हार्पर एण्ड ब्रदर्स। सर्वाधिकार, १९२३, ऐडनासेंट विनसेंट मिले द्वारा लिखित। पृष्ठ २२।

जीवन में अधिकांश छोटे-मोटे झगड़े, जो पारस्परिक विश्वास और आनन्द नष्ट कर देते हैं, ऐसी बातों से पैदा होते हैं जो बातें ही नहीं होनी चाहिए थीं। और अधिकांश सामाजिक जड़ता और भीरुता, जो संसार को अपने आदर्श की ओर बढ़ने से रोकती हैं, इस बात की द्योतक हैं कि जो विषय उठाये जाने चाहिए थे वे उठाये नहीं गए।

एक परिपक्व मनुष्य महत्त्वपूर्ण और महत्वहीन का अन्तर समझता है। जब वह समझता है कि जो उसे कहना है उसके कहे जाने की जरूरत है तो वह उसे कहने का साहस रखता है। लेकिन वह इतना समझदार होता है कि विषय-विवाद योग्य न होने पर वह अपनी राय जाहिर नहीं करता।

हमें अपनी परिपक्वता सिद्ध करने के लिए किसी विशेष महान अवसर की आवश्यकता नहीं। किसी भी स्थिति में चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, परिपक्व अथवा अपरिपक्व प्रतिक्रिया चारित्रिक गठन की परिचायिका होती है। जीवन में कोई तटस्थ स्थान नहीं होते। कहीं भी, हर जगह और सब जगह जो-कुछ हम करते हैं वह किसी हद तक हमारी अपरिपक्व गुण्य की अभिव्यक्ति होती है।

परिपक्वता की तस्वीर स्पष्ट करने के लिए दूसरा काम हम यह कर सकते हैं कि उन दलों से मिलें जो परिपक्वता को आगे बढ़ाते हैं।

यही व्यक्ति के लिए एक अचूक परीक्षा है। क्या उसका सामाजिक जीवन उन दलों से पूर्णतया सीमित है जो विभिन्न प्रकार की अपरिपक्वताओं को चलाये चले जाते हैं: ऐसे दल जो अपने-आपको महत्वपूर्ण दर्शाने के लिए अपनी असभ्यतापूर्ण पृथकता बनाये रखते हैं; वे दल जो जीवन को निरन्तर आत्मानुग्रही बना लेते हैं; वे दल जो मानव प्रेम का उपदेश देते हैं किन्तु व्यवहार में असहनशील होते हैं; वे दल जो पक्षपातपूर्ण स्वामिभक्ति को, आलोचनात्मक विचार की अपेक्षा सर्वोपरि गुण समझते हैं।

अथवा वह व्यक्ति जो जान-बूझकर और प्रयत्नशील इच्छा से ऐसे दलों में मिलता है जो परिपक्वता बढ़ाने में महत्त्व मानते हैं: वे दल जो जान-बूझकर जाति-भेद तथा दूसरे अविचारों की भीषण अपरिपक्वताओं को

दूर करने का यत्न करते हैं; वे दल जो नागरिक के मस्तिष्क को हर मसले पर आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं; वे दल जो समाज की उन्नति के लिए सक्रिय कार्य की नागरिकता निभाते हैं; वे दल जो गरीबी, अज्ञानता, गन्दी बस्तियों का जीवन, आर्थिक अन्याय, जाति-भेद आदि उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को दूर करने में दत्तचित्त लगे रहते हैं; वे दल जो नवयुवकों की अच्छी शिक्षा और अच्छे रहन-सहन के लिए कार्य करते हैं; वे दल जो जीवन के आध्यात्मिक आधार को विशाल और गहरा बनाने का यत्न करते हैं ?

हमारी स्वयंसेवी सामूहिक संस्थाओं के क्षेत्र में परिपक्वता और अपरिपक्वता के बीच भीषण संघर्ष चलता रहता है। इसी क्षेत्र में एक व्यक्ति परिपक्वता की चिन्ता करने वाले लोगों की महानतर संयुक्त शक्ति में अपनी छोटी सी शक्ति को मिला देने का सर्वोत्तम अवसर पाता है। प्राचीन युगों में एक बड़ा आदमी पवित्रता के अनुशासन में रहता था। वह एक पवित्र संगठन में शामिल हो जाता और अपनी-जैसी भावना के साथियों सहित एक नियोजित अनुशासन में 'परमात्मा की कीर्ति' के लिए काम करता था। एक-एक व्यक्ति के व्यक्तिगत प्रयत्नों को एक दल के प्रयत्नों के साथ मिला देने का यह प्राचीन तरीका था, जो जीवन की महानतर परिपूर्णता के लिऐ कार्य करते थे। आधुनिक समय में पवित्रता का अनुशासन अधिकतर हम लोगों में लुप्त हो चुका है और हम अपने व्यक्तिगत रास्ते पर किसी उद्देश्य-पूर्ति की भावना बिना और उस उद्देश्य-पूर्ति के लिए अनुशासित भाईचारे बिना बढ़ते चले जाते हैं। हो सकता है कि धर्म-निरपेक्षता के जोश में हमने नहाते बच्चे को टब समेत फेंक दिया हो। अथवा हो सकता है कि पवित्र अनुशासन के लिए किसी नये मार्ग की तैयारी हो रही हो। मठ में बैठा भिक्षु एक समर्पित व्यक्ति होता था। लेकिन आज भी व्यक्ति अपने साथियों के साथ दुर्व्यवहार के लिए न्याय प्राप्त कराने की भावुकता में, रात-दिन ऐसे कानून बनाने में लगा रहता है जिनसे वह अन्याय दूर हो जाय। इसी प्रकार वह व्यक्ति भी है जो हमारे नगरों में बाल-जीवन की अत्याचार-

पूर्ण सीमाबद्धता को देखता है और बच्चों के साँस लेने तथा खेलने के स्थान के लिए उद्योग करता है तथा कानून के जाल में जकड़े बाल-जीवन के साथ अधिक उदारता के साथ व्यवहार किये जाने के लिए प्रयत्न करता है। इसी प्रकार वह व्यक्ति भी है जो अपने समान मस्तिष्क वाले साथियों सहित जीवन को अधिक सम्पन्न बनाने के लिए कार्य करता है, और अपने इस कार्य को अधिक अच्छा समझता है।

आत्मसमर्पण और आत्मानुशासन के कई रूप हो सकते हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि व्यक्ति हृदय से अपने आत्मसन्तोष से परे भी कुछ करने में सहायक हो। उसे इस प्रकार सहायक होने में आज कोई कठिनाई न होगी। हमारा समय अव्यवस्थित हो चुका है और अब जरूरत यह है कि "समस्त अच्छे मनुष्य मनुष्य की सहायता को आएँ", जो मनुष्य कि आज असमंजस, भ्रान्ति और आत्मपराजय में जकड़ा हुआ है। पुराने जमाने में जिस प्रकार पवित्र-संगठन हुआ करते थे, आज उसी प्रकार स्वयंसेवक-दल हैं, जो मनुष्य को परिपक्व आनन्द में अपने-आपको पूर्ण करने के लिए सजगता से आवश्यक कार्य करने को बनाये गए हैं।

परिपक्व प्रक्रिया को सजग बनाने के लिए वृहत्गूढ़ और अविच्छिन्न मस्तिष्क के विकास के लिए एक योजना का प्रबन्ध हमें करना चाहिए।

हमारी संस्कृति का एक दोष यह भी है कि उसने अपरिपक्वता को आदर्श का स्थान दे दिया है। बचपन खुशी का समय मालूम पड़ता है, जवानी तो शुरू होने से पहले ही समाप्त हो जाती है, और वह ललचाए हुए इस भाव से देखी जाती है कि जैसे सुनहरा समय हो, जो कभी लौटकर नहीं आ सकता।

अपरिपक्वता को आदर्श बना देने का मुख्य कारण यह है कि हम बचपन तथा यौवन को केवल वयस्कता में बदलते हैं, परिपक्वता में नहीं। हमने परिपक्वता में एक सृजनात्मक सुख एवं महत्ता अनुभव किये बिना ही प्रौढ़ावस्था के आभारों को अपने ऊपर ले लिया है। परिपक्वता से इसलिए जवानी जाने का अर्थ प्रतिदिन की नीरसता और आर्थिक पिंजड़े में विभिन्नता से ग्रस्त चिन्तातुर जीवन में प्रवेश करना समझा जाता है। हमारे

लिए उसका अर्थ जीवन के किसी ऐसे नये क्षेत्र में प्रवेश करना नहीं होता, जिसमें कि हमारे दिमागों की एक नई और जोश भरी गति-विधि एक ऐसा अनुभव लाये जो जवानी के सालों से अधिक क्षति-पूर्ति कर दे।

बचपन और जवानी को आदर्श रूप में देखने से हमारी समस्त संस्थाएँ प्रभावित हुई हैं! उसने माता-पिता को अपने बच्चों से डरा दिया है, वे उनके लिए उचित मानदण्डों को बनाने में डरते हैं कि कहीं बच्चे उन्हें पुराने ढंग का मनुष्य न समझें। उसने विज्ञापकों को इस योग्य बना दिया है कि वे हमें डराएँ और चेतावनी दें कि यदि हम उनकी वस्तुएँ न खरीदेंगे तो हम बुड्ढे दिखाई पड़ेंगे। हमारे हाथों पर झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं दाँत धुँधले अथवा भवें जवानी के बाँकेपन को जाहिर नहीं करती। उसने शिक्षा को केवल जवानी की सेवा में लगाया है। "हम चाहते हैं कि हमारे बच्चों के पास वह हो जो हमारे पास नहीं है।" इस प्रकार प्रौढ़ावस्था को बीती-खुशी समझा जाने लगा। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि वयस्कों में प्रसन्नता और साहस नहीं कि वे ऐसे मार्ग तलाश करें जिनसे उनकी वयस्कता को एक नया महत्त्व प्राप्त हो जाय। हमारी संस्कृति ने वयस्कों को उसका एक अंश भी नहीं दिया जो स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालयों में बच्चों और जवानों को उदारतापूर्वक दिया जाता है, और यह इस बात का पर्याप्त द्योतक है कि वयस्कों को वयस्कता के गौरव में विश्वास नहीं। उनके जीवन का सर्वोत्तम समय व्यतीत हो चुका। शेष रोजी कमाने और रहने-भर के लिए ही है।

फिर भी मनोवैज्ञानिक परिपक्वता मानव-परिपूर्णता के मार्ग की सर्वोत्तम विजय है; और सिर्फ बड़ी उम्र में ही इस विजय का अनुभव किया जा सकता है। बच्चे और किशोर बड़ी उम्र की परिपक्व अन्तर्दृष्टि का अनुमान नहीं कर सकते, वे तो उसके लिए तैयारी-भर ही कर सकते हैं। वास्तव में बच्चे और जवान विजयपूर्ण वर्षों के बजाय विभिन्न निराशाओं के वर्षों में रहते हैं। वे कुछ भी कोशिश क्यों न करें, अभी परिपक्व विचारों के बारे में वे नहीं सोच सकते और न वे परिपक्व कार्य ही कर सकते हैं लेकिन यदि भाग्य मददगार रहा, और उनके विकास में अवरोध न आया तो आगे चलकर

वे अवश्य परिपक्व कार्य कर सकेंगे।

संक्षेप में, प्रौढ़ावस्था एक ऐसी महत्त्वपूर्ण आयु है जिसकी ओर जीवन बढ़ता है। वह एक ऐसा समय है जबकि समस्त तैयारियाँ फलवती हो सकती हैं।

ऐसे समाज की कल्पना कीजिए जिसमें लगभग सभी अपनी अपूर्ण प्रौढ़ावस्था को समझने लग जायँ। कल्पना कीजिए कि उस समाज के वयस्क यह तय कर लें कि जहाँ तक सम्भव हो सकेगा वे अपना समय वयस्कता को परिपक्वता बनाने में लगायेंगे तो एक क्षमाशील नीरसता के स्थान पर नई महत्ता की विजय-पताका फहरायेगी।

वे आपस में पूछेंगे कि वयस्कों को क्या करने की जरूरत है ताकि उनकी वयस्कता पूर्णरूप से सजीव हो जाय।

सबसे पहले वे शायद इस बात पर सहमत हों कि क्योंकि व्यक्ति बचपन और किशोरावस्था पारकर चुका है इसलिए उसे अपने-आपको *परिपक्वता की दृष्टि से* देखना चाहिए। जीवन में प्रथम बार उन्हें वयस्क आँखें मिलती हैं, इसलिए उन्हें जरूरत है कि अपनी ओर देखें और परिपक्वतापूर्वक अपना मूल्यांकन करें।

उन्हें एक दूसरी चीज और दिखाई देगी जो उन्हें करनी है। अब प्रथम बार वे अपने गत जीवन की ओर देखेंगे और जिस रूप से उन्हें पाला-पोसा तथा शिक्षित किया गया है उसका मूल्यांकन करेंगे। अपने इस नये आत्म-ज्ञान के साथ ही वे अच्छाई या बुराई, बुद्धिमानी अथवा मूर्खता का जो व्यवहार उनसे हुआ है अथवा घर, स्कूल, कालिज और अन्य स्थानों में उन पर जो बीती है, अनुमान करने लगेंगे। तब वे इस नये ज्ञान के साथ यह निर्णय करने की स्थिति में होंगे कि किस प्रकार बच्चों को ठीक ढँग से पाला-पोसा जाना चाहिए।

वे एक तीसरी बात और करना चाहेंगे। अपनी नई वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से यह समझकर कि एक गहन वातावरण का व्यक्तिगत जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, वे उस गहन वातावरण की खोज करना चाहेंगे, जो कई रूप से उनके स्वयं के जीवन, उनके बच्चों के जीवन और उनके साथियों के

जीवन को बना बिगाड़ रहा था। वे स्पष्टवादिता और बुद्धिमत्ता के साथ अपने समाज पर दृष्टिपात करना चाहेंगे। वे अपने समाज में इधर-उधर घूमेंगे और यह पता लगायेंगे कि उन्होंने व्यक्तियों पर क्या प्रभाव डाला है और उसे क्या डालना चाहिए था।

और इसके बाद वे विस्तृत संसार के बारे में अपने राष्ट्र तथा बहुत से अन्य राष्ट्रों और दूसरे लोगों के सम्बन्ध में जानने का दुर्लभ यत्न करेंगे। समाचारपत्रों द्वारा बनी हुई अपने मस्तिष्क की भ्रान्तियों और गलत-फहमियों से ऊपर उठकर वे यह समझने का यत्न करेंगे कि असंगत सुरखियों के कोलाहल के पीछे क्या छिपा है। यह एक महत्वपूर्ण कार्य होगा। आत्म-ज्ञान तथा समाज-ज्ञान को किसी हद तक प्राप्त करके वे संसार को बाहरी दृष्टि से ही नहीं देखेंगे, उनमें इतनी मनोवैज्ञानिक समझ आ जायगी कि संसार के आन्तरिक हेतुओं को वे समझ सकेंगे, शक्ति की आकांक्षा और न्याय तथा मुक्ति के लिए उनके फूहड़ प्रयत्नों को देख सकेंगे। संक्षेप में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की गड़बड़ी तथा उसका स्पष्ट रूप दोनों देख सकेंगे और समझ सकेंगे कि मनुष्यों के आन्तरिक जीवन की यह बाहरी अभिव्यक्ति है।

अन्ततः वे अपने-आपको महान मानवीय परम्परा से परिचित करना चाहेंगे। वे इस परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। फिर भी अधिकांश समय शिक्षा-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि तथा प्रविधियों के दिवालियेपन के कारण स्कूल और कालिज के जीवन में तो समयाभाव रहा ही, पर बाद के जीवन में भी वे दर्शन, विज्ञान, धर्म, काव्य, नाटक, कहानी, साहसिक कार्य, उच्चतम आविष्कार तथा पराजय, जो विजय के समान थी, उनके बारे में वे बहुत कम सीख पाए। इन सबको सीखने और इस सम्पन्न उत्तराधिकार को क्रियात्मक रूप देने के लिए एक जीवन-काल भी अधिक नहीं है। लेकिन उनका वयस्क जीवन भावना के इस उत्तराधिकार में भली भाँति व्यतीत किया जा सकता है।

अब हम जान गए कि परिपक्वता को एक पराजित और त्याज्य वयस्कता

का नीरस कार्यक्रम होना जरूरी नहीं। वह तो हमारे समस्त बालपन और यौवन में तैयार हुई शक्तियों का सफलतापूर्वक उपयोग है।

वयस्कों की आवश्यकताओं को समझने का एक झूठा और एक सच्चा तरीका है। झूठा तरीका तो यह सोचने में है कि उम्र बढ़ना स्वभावगत दुर्भाग्य है, जिसकी बढ़ती हुई दुर्बलताओं को अवश्य कम किया जाना चाहिए। जब बढ़ती उम्र को इस रूप में देखा जाता है, तो हम उन साधनों को ढूँढ़ने लगते हैं जिनसे वृद्ध अपने जीवन की नीरसता कम कर सकते हों। तब वृद्धों को मन-बहलाव के तरीके सुझाते हैं।

यह वास्तव में हमारी वयस्कता का अपमान है। यह तो ऐसा है मानो जीवन का सारा महत्त्व समाप्त हो चुका है और सिर्फ अँगुलियाँ चटकाना ही बाकी रह गया है। तब तो समस्या सिर्फ यही है कि अँगुलियों को किस प्रकार भिन्न तरीकों से चटकाया जाय।

वयस्कता पर सच्चे रूप से इस दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए कि यह जीवन की एक सीढ़ी है जिसकी महत्ता और किसी उम्र में प्राप्त नहीं हो सकती। वयस्कता वह समय है जब जीवन-सम्बन्धी एक बुद्धिमत्ता पाई जा सकती है, जो बालपन और यौवन में उपलब्ध नहीं हो सकती।

यही वयस्क का गौरव है। यह गौरव तभी है जबकि वह परिपक्व वयस्क हो—ऐसा नहीं जो विकास में अवरुद्ध होकर अपना समय यौवनोन्मुखावस्था में ही व्यतीत कर रहा हो। वयस्कता को परिपक्व प्रौढ़ों के मनोरंजन के लिए चीजों की आवश्यकता नहीं वरन् एक महत्त्वपूर्ण एवं सुखद परिपक्वता की ओर बढ़ने में सहायता की जरूरत है।

हमें बताया गया है कि जहाँ सूझ-बूझ नहीं होती, जाति नष्ट हो जाती है। जहाँ परिपक्वता नहीं होती वहाँ सूझ-बूझ नहीं हो सकती। अब हम यह समझने लगे हैं। हम यह जान गए हैं कि हमारे जीवन की बुराइयाँ हमारे भीतर से नहीं आतीं; बल्कि जीवन के प्रति बचपन के व्यवहार से आती हैं—तो बढ़ना हमारा कर्तव्य है। यही आज का जमाना हमसे आशा करता है। इसी से हम सबकी रक्षा हो सकती है।